जीवन विवेचन

भाग-1

परम पूज्य दिव्य ज्योति
देवकी माता जी के प्रवचन

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन (मथुरा)

जीवन विवेचन

भाग 1

परम पूज्या दिव्य ज्योति
देवकी माताजी के प्रवचन

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन (मथुरा)

- प्रकाशक :

  मानव सेवा संघ
  वृन्दावन (मथुरा)
  पिन-281121

- सर्वाधिकारी प्रकाशक

- तृतीय संशोधित संस्करण—विजयादशमी, 2006

- 4000 प्रतियाँ

- मूल्य Rs 20/-

- मुद्रक :
  पावन प्रिन्टर्स,
  मेरठ

अनुक्रमणिका

क्रमांक		पृष्ठ संख्या
1.	प्रवचन 1	...9
2.	प्रवचन 2	...21
3.	प्रवचन 3	...35
4.	प्रवचन 4	...46
5.	प्रवचन 5	...59
6.	प्रवचन 6	...75
7.	प्रवचन 7	...89
8.	प्रवचन 8	...102
9.	प्रवचन 9	...118
10.	प्रवचन 10	...132

प्रार्थना

मेरे नाथ,

आप अपनी सुधामयी, सर्व समर्थ, पतित पावनी, अहैतुकी कृपा से मानव मात्र को विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य प्रदान करें एवं हे करुणा सागर ! अपनी अपार करुणा से शीघ्र ही राग-द्वेष का नाश करें। सभी का जीवन सेवा-त्याग-प्रेम से परिपूर्ण हो जाए।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !

वस्तु खिंचती है धरती की ओर
मनुष्य खिंचता है अनन्त की ओर

प्रार्थना

('प्रार्थना' आस्तिक प्राणी का जीवन है।)

मेरे नाथ!
आप अपनी
सुधामयी,
सर्व समर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से,
दुःखी प्राणियों के हृदय में,
त्याग का बल
एवं
सुखी प्राणियों के हृदय में,
सेवा का बल
प्रदान करें;
जिससे वे
सुख-दुःख के
बन्धन से
मुक्त हो,
आपके
पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर,
कृतकृत्य हो जाँय।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !

मेरा मुझमें कुछ नहीं,
जो कुछ है सो तोर !

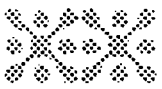

श्री सद्गुरु देव के श्री चरणों में
सादर सविनय समर्मित

—विनीता देवकी

जीवन विवेचन (परिचय)

ब्रह्मलीन पूज्यपाद स्वामी शरणानन्द जी महाराज का मैं एक प्रिय बालक हूँ। वे ज्ञान और प्रेम के सागर हैं। मैं उस सागर का किनारा भी छू सकने की सामर्थ्य नहीं रखता। केवल उनके मातृत्वपूर्ण हृदय का वात्सल्य-रस मुझे मिलता रहा है और उसमें मैं पला-पनपा हूँ।

उन्हीं की यह विशेष कृपा है कि मानव-जीवन के लिए सर्व हितकारी एवं क्रान्तिकारी विचारधारा को उन्हीं की वाणी में संकलित करने में सहयोग का सुअवसर मुझे मिला है। आत्मीय श्रोता भाई-बहिनों की सेवा में संत वाणी के तीन सैट्स प्रस्तुत किए जा चुके हैं। उनकी सर्वप्रियता एवं उपादेयता आप सभी को विदित है।

बड़े ही हर्ष का विषय है कि आज दिव्य ज्योति देवकी माँ के प्रवचनों का प्रथम संकलन आपकी सेवा में प्रस्तुत हो रहा है। परम पूज्य श्री स्वामी जी महाराजा के अतिगहन दार्शनिक रहस्यों की सूत्रात्मक अभिव्यक्तियों की सरल व्याख्या पूज्या देवकी माँ ने की है जो साधक-समाज के लिए उपयोगी सिद्ध हुई है। इसी आधार पर मानव-सेवा-संघ की विचारधारा के प्रेमियों के आग्रह से प्रस्तुत संकलन 'जीवन-विवेचन' तैयार किया गया है, यद्यपि पूज्या देवकी माँ ने इन प्रवचनों को टेप अंकित कराना पसन्द नहीं किया—कारण साधक की भाषा में अनेक त्रुटियाँ हो सकती हैं। उन त्रुटियों को कहीं विचारधारा की त्रुटि मान लेने की भूल न हो जाय, उनकी यह आशंका थी। फिर भी हम मानव-सेवा-संघ के प्रियजनों के आग्रह से उन्होंने बड़े ही संकोच के साथ इस कार्य की स्वीकृति दी है।

इन प्रवचनों में एक विशेष बात यह है कि पूज्या देवकी माँ ने साधक होकर साधना-पथ की विविध कठिनाइयों से गुजरने का अनुभव किया है, परम पूज्य श्री स्वामी जी महाराज के परामर्श से उन कठिनाइयों को पार करने के उपायों को उन्होंने जाना है, जिनकी व्याख्या वे बड़े ही स्पष्ट शब्दों में करती हैं। इस विशिष्टता के कारण ये प्रवचन साधकों के लिए बड़े ही हृदयग्राही होते हैं। जीवन की गुत्थियों को सुलझाने में इनसे बड़ी मदद मिलती है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों के द्वारा व्यक्तित्व के *Complexes* (जटिलता) को समझने तथा दूर करने के लिए साधकों को अपने में अन्तर्दृष्टि अर्थात् *Insight into Self* प्राप्त होती है, प्रगतिशील साधक बहुत ही लाभान्वित होते हैं तथा अपनी साधना में स्वयं दिशा निर्देशक होकर अपनी आँखों देखने व अपने पैरों चलने में समर्थ हो जाते हैं। ये प्रवचन साधक-समाज के पथ-प्रदीप हैं, जिनसे सभी का जीवन प्रकाशमय हो सकता है, ऐसा हमारा विश्वास है। अब आप पूज्या देवकी माँ की ही वाणी सुनें।

विनीत,

विष्णु माथुर

सदस्य, संतवाणी संकलन समिति,

मानव-सेवा-संघ, वृन्दावन (मथुरा)

(उत्तर प्रदेश)

प्रवचन 1

सत्संग-प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो,

हम सब लोग मानव हैं। मानव का एक नाम साधक है। साधक होने का अर्थ यह है कि हम अपने जीवन की आवश्यकताओं को जानते हैं, अपनी त्रुटियों को जानते हैं, वर्तमान में अपनी भूलों को मिटाना चाहते हैं।

साधक होने का अर्थ तब सार्थक होता है जब हम अपनी जानी हुई भूलों को मिटाने के लिए तत्पर रहें और जीवन की जो मौलिक माँग है उसकी पूर्ति के लिए तत्पर रहें तो अपने को जानना, अपनी वर्तमान दशा को जानना, भूल-जनित असाधनों का नाश करने के लिए तत्पर रहना और जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करना, यह साधक की परिभाषा है। इस दृष्टि से हम सभी साधक हैं और साधक होने के नाते हम सभी भाई-बहनों को सिद्धि मिलनी चाहिए और इसी वर्तमान में मिलनी चाहिये।

पता नहीं, कब की सुनी हुई बातें हमारे ध्यान में रहती हैं जो रूढ़ि के रूप में प्रगति के रास्ते में बाधक बनकर खड़ी हो जाती हैं। क्या सुनी हुई बातें हैं?

बहुत-बहुत दिनों तक प्रयास करते रहो, जन्म-जन्मांतर कोशिश करते रहो, तक कहीं जाकर जीवन-मुक्ति मिले, तब कहीं जाकर जीवन सार्थक हो। ऐसी बातें हमारी सुनी हुई हैं। परन्तु इन सुनी हुई बातों के प्रभाव में हम स्वयं अपने को अपने वर्तमान में आगे बढ़ाने की चेष्टा न करें, शिथिलता से जहाँ के तहाँ अटके रहें, तो बहुत बड़ा घाटा होगा। जिन महापुरुष की वाणी अभी आप सुन रहे थे, उन्होंने बड़े ही दु:ख से अपने को निकाला। बहुत ही विकट और प्रतिकूल परिस्थितियों में से स्वाधीन जीवन की राह उन्होंने निकाली। उनका अध्ययन मानव-जीवन के सम्बन्ध में यह है कि

मनुष्य स्वयं अपने द्वारा जीवन के सत्य को स्वीकार करने में स्वाधीन है। सत्य की स्वीकृति से जीवन बदलता है। अपने जाने हुए असत्य का त्याग करने में मनुष्य स्वाधीन है। अपने जाने हुए असत्य के संग का त्याग करने से असाधनों का नाश होता है। असाधनों का नाश होने से साधन का निर्माण होता है और एक बार साधक के जीवन में साधन का निर्माण हो जाता है, तो फिर साधना करनी नहीं पड़ती, स्वतः उसका सम्पूर्ण जीवन साधनमय हो जाता है। फिर वह अपने साधनतत्त्व से अभिन्न होकर सदा-सदा के लिए कृत-कृत्य हो जाता है। यह मानव-जीवन का सत्य है। यह संत का अनुभूत सत्य है।

बहुत छोटी उम्र में उनकी आँखें चली गई थीं। ग्रंथों का अध्ययन तो उन्हें मिल ही नहीं सकता था, शारीरिक असमर्थता थी। तो बाहर से किसी प्रकार की सहायता न पाने की दशा में भी, केवल जीवन के अनुभव का आदर करके, सत्य को स्वीकार करके उन्होंने अपने को योग, बोध और प्रेम से अभिन्न किया।

एक बार की चर्चा है—वे स्वयं हम लोगों को बता रहे थे कि वे गुरु महाराज के पास बैठे थे, जिन्होंने सन्यास दिया, जिन्होंने इनको इस रास्ते पर आगे बढ़ाया। वे महापुरुष थे। वे उनके पास बैठे हुए थे और जी में ऐसा आया कि उपनिषद् पढ़ने से बड़ा लाभ होता है। आँखें तो थी नहीं, पढ़ना-लिखना कुछ हुआ ही नहीं था। पढ़ेंगे कैसे उपनिषद्? सम्भावना ही नहीं थी। तो भीतर-भीतर चुप हो गए। पढ़ने का अवसर नहीं है, तो उपनिषद् पढ़ने से बहुत लाभ होता, जल्दी सफलता मिलती-ऐसा सोच करके वे रह गये। उनके गुरु महापुरुष थे, साधक के जी की बात जानने वाले थे। उन्होंने स्वयं अपने आप यह कहना आरम्भ किया कि अरे भाई, सुनो, शास्त्रों के अध्ययन का बहुत ही अच्छा तरीका है। उसकी पाठशाला है—एकांत और पाठ है—मौन। उस एकान्त पाठशाला में मौन

होकर अर्थात् चुप होकर शान्त रह कर मूक सत्संग में जो साधक ठहरी हुई बुद्धि में शान्ति पूर्वक रहता है उसकी उस बुद्धि में शास्त्रों का सब ज्ञान स्वतः प्रकाशित होता है।

सुन लिया उन्होंने और जैसा सुना वैसा किया। बिना ही किसी बाहरी अध्ययन के सब शास्त्रों का ज्ञान अर्थात् मानव-जीवन का रहस्य, सृष्टि का रहस्य, जीवन का सत्य स्वतः ही उनमें प्रकट हो गया। जो परिचित भाई-बहिन यहाँ बैठे हैं, जिन्होंने दर्शन किया है, वाणी को सुना है, वे सभी इस बात को जानते हैं कि किस तरह वे शास्त्र की युक्ति-युक्त बातों को कितनी सहज भाषा में, बोल कर प्रकाशित करते रहते थे। यह एक उदाहरण अपने लोगों के सामने है।

अपने अनुभव के आधार पर उन्होंने हमें यह बताया कि मनुष्य को जो चाहिए—किस बात के लिए? जीवन के लक्ष्य से अभिन्न होने के लिए। उसको जो चाहिए वह जीवन-दाता ने प्रारम्भ से ही उसे दे दिया। अर्थात् जो अविनाशी जीवन है, जो जीवन का सत्य है, जो आनन्दमय अपना अस्तित्व है और जो आनन्द स्वरूप अपने परम प्रेमास्पद हैं, वे अपने ही भीतर विद्यमान हैं और उनसे अभिन्न होने के लिए बाहरी किसी भी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति की अपेक्षा नहीं है। यह एक विशेष बात है, जो आप सत्संगी भाई-बहिनों की सेवा में मैं निवेदन करना चाहती हूँ। बहुत कुछ सुना है आपने, बहुत कुछ सुनते रहे हैं। आपकी पृष्ठभूमि बहुत अच्छी है। उस आधार पर मैं यह निवेदन कर रही हूँ-बहुत जल्दी इस बात को आप grasp कर सकते हैं, पकड़ सकते हैं कि वस्तुतः मनुष्य के जीवन में अपना जो लक्ष्य है वह है संयोग-वियोग से रहित नित्य योग, जन्म और मृत्यु से रहित अमरत्व और क्षति-पूर्ति से रहित अनन्त रस की प्राप्ति।

यह जो हमारी-आपकी अपनी मौलिक माँग है, इस माँग की पूर्ति में जीवन-दाता ने हम सभी को पूरा स्वाधीन बनाया है। यह एक विशेष बात है। इसको आप अपने विचार करने के लिए सामने रखें कि सचमुच जो मौलिक माँग है, जिसकी पूर्ति के बाद जीवन कृत-कृत्य हो जाता है और कुछ पाना और कुछ करना शेष नहीं रहता, उस जीवन की अभिव्यक्ति में, उस लक्ष्य की पूर्ति में, उस सत्य से अभिन्न होने में हम सभी लोग स्वाधीन हैं। पूर्ण स्वाधीन हैं। क्यों? इसलिए कि उससे अभिन्नता किसी वस्तु के आधार पर नहीं होती, शरीरों के आधार पर नहीं होती, संगी-साथियों के आधार पर नहीं होती। उससे अभिन्नता होती है सबसे असंग होने पर। यह तो आप लोगों का पहले का सुना हुआ है न? जो अविनाशी जीवन है, जो आनन्दमय अस्तित्व है, जो परम प्रेमास्पद प्रभु हैं, उनसे मिलने के लिए जो दृश्य जगत् के दृश्य हम लोगों को दिखाई देते हैं, जो हमारी इन्द्रियों का विषय बन सकते हैं, उनसे असंग होने पर वह अविनाशी जीवन मिलता है। यह भी आपने पहले सुना होगा। अब उसमें से अर्थ निकालिए अपने लिए। यह बात आपको बिल्कुल सही मालूम होगी कि जब सबसे असंग होने पर ही सबसे तादात्म्य तोड़ने पर ही वह अविनाशी जीवन मिलता है तो उसको पाने के लिए फिर बाहरी कोई सहारा नहीं चाहिये।

शारीरिक स्वास्थ्य अविनाशी जीवन को देने में कारण नहीं बन सकता। शारीरिक स्वास्थ्य संसार की सेवा करने में सामग्री के रूप में सहायक हो सकता है। परन्तु ऐसा आप नहीं कह सकते कि शरीर स्वस्थ होगा तो हम जीवन-मुक्ति के अधिकारी बनेंगे, भगवत् भक्ति के अधिकारी बनेंगे-ऐसा नहीं कह सकते। बहुत से स्वस्थ शरीर वाले सज्जन हैं जिनको शरीर की आसक्ति से छुट्टी नहीं मिली है, शरीर के स्वस्थ होने के अभिमान में फँसे हुए हैं। तो शरीर स्वस्थ होने पर भी हम सत्य से दूर रहते हैं। इसलिए यह एक अनिवार्य तथ्य नहीं है। अनिवार्य तथ्य क्या है कि प्रकृति

के विधान से हम लोगों को शरीर स्वस्थ मिला है तो भला, और अपनी ही भूल से, विवेक का आदर नहीं करने से, बल का सदुपयोग नहीं करने से प्रकृति के विधान से उसमें अनेक प्रकार के रोग आ गये हैं, तो भला। यदि शरीरों से आप अपना मूल्य अधिक बढ़ा लेते हैं, शरीरों से अपने को असंग कर लेते हैं तो उस असंगता में अविनाशी जीवन से अभिन्न होने का आनन्द आ जाता है। तो जिसने शरीरों से तादात्म्य तोड़ लिया, जिसने शरीरों से अपने को असंग कर लिया अथवा जिसने अपने सहित सर्वस्व उस परम प्रेमास्पद प्रभु को समर्पित कर दिया, उसने जन्म-मरण के पार अमरत्व से, अनन्त आनन्द से अपने को अभिन्न कर लिया। तो ऐसा जो कर सकता है, उसके लिए शरीर का स्वस्थ होना अथवा बीमार होना, न लाभदायक है, न हानिकारक है।

यह एक बात केवल शारीरिक स्वास्थ्य की चर्चा करके मैं छोड़े दे रही हूँ। धन-सम्पत्ति और विद्या-अध्ययन, पढ़ने-लिखने का भी ऐसा ही महत्त्व है। बहुत पढ़ना-लिखना किया है, बहुत अध्ययन किया है, तो अध्ययन का भी आधार है—शरीर (सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर)। बुद्धि की सहायता लेकर के हम सब यह करते हैं। शरीरों की सहायता से जो कुछ हम कर सकते हैं, शरीरों की सहायता से जो कुछ जानकारी हमने प्राप्त की है उससे लाभ उठाकर, उसके प्रकाश में अपने को शरीरों से आगे बढ़ाकर जब हम अविनाशी से अभिन्न होना पसन्द करेंगे, तो सारे अध्ययन के फलस्वरूप सब जानकारी के संग्रह सहित स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर से अपने को ऊपर उठाना ही पड़ेगा। तो पढ़-लिखकर के सब छोड़ दिया तो क्या और बिना पढ़े-लिखे छोड़ दिया तो क्या। छोड़ देने के बाद सबका मूल्य बराबर हो गया। इसका अर्थ यह नहीं है कि अध्ययन निरर्थक है। इसका अर्थ यह है कि कोई भी भाई-बहिन ऐसा न सोचे कि मुझे शास्त्रों के अध्ययन करने का अवसर नहीं मिला, परिस्थिति नहीं मिली, तो मुझे अविनाशी जीवन नहीं मिलेगा—ऐसा नहीं सोचना चाहिए।

स्वामी जी हाराज ने मानव-जीवन के सम्बन्ध में जो अनुभव किया, जो खोज की, उसकी पहली बात आप भाई-बहिनों की सेवा में निवेदित है कि शरीर सम्बन्धी जो भी कुछ सामर्थ्य है, जो योग्यता है, बल है, जो भी कुछ है वह सब साधन-सामग्री के रूप में है। और जिसको जितना मिला है, उसके लिए उतना ही पर्याप्त है। इसलिए आप किसी क्षण में अपने को योग, बोध ओर प्रेम के सम्बन्ध में अनधिकारी मत मानियेगा। ऐसा मत सोचियेगा कि मुझे योग, बोध और प्रेम नहीं मिल सकता है। अर्थात् मैं सुख-दुःख के पार अनन्त आनन्द से अभिन्न नहीं हो सकता हूँ, मैं जगन्नियन्ता, प्रेमस्वरूप, रस-स्वरूप, परम प्रेमास्पद प्रभु के प्रेम का अधिकारी नहीं हो सकता हूँ-ऐसा कभी मत सोचियेगा।

अब दूसरी बात। देखिए, विचार करने के लिए अभी थोड़े दिन पहले बहुत ही अच्छे-अच्छे और हम सब भाई-बहिनों के लिए आवश्यक तथ्य मेरे सामने आये। अनुभवी सन्त के सम्पर्क में बैठ कर कुछ सुना, कुछ सोचा, कुछ अनुभव किया। उसी के आधार पर मैं आपकी सेवा में निवेदन कर रही हूँ कि अगर आप शारीरिक जरूरतों को पूरा करने के पीछे पड़ जाओ कि अमुक प्रकार का भोजन मिलना ही चाहिए, अमुक प्रकार का रहन-सहन होना ही चाहिए, अमुक प्रकार की सुविधा मिलनी ही चाहिए-अगर ऐसा सोच लो, भीतर भीतर, तो क्या हो गया? सबसे पहिले शरीर की दासता आ गयी। फिर परिवार के कुटुम्बीजनों की दासता आ गयी। फिर क्या हुआ? अप्राप्त वस्तु, परिस्थिति के चिन्तन ने आप को शान्ति से दूर कर दिया। ठीक है न? जैसा मिला है वह पसन्द नहीं आता है, तो इतना-इतना बढ़िया मकान चाहिए, ऐसा अच्छा परिवार होना चाहिए, ऐसा अच्छा भोजन होना चाहिए, ऐसा अच्छा वस्त्र होना चाहिए। तो चाहिए सब कुछ, लेकिन सृष्टि-कर्ता के विधान में तुम्हारे लिए प्रावधान होगा तब न मिलेगा। तो अब जो मिला है वह सन्तोष नहीं दे रहा है, और जो नहीं

मिला है उसको सोच-सोच करके जो मिल गया है, सामने है, उसका भी सुख, उसकी भी सुविधा तुम्हें कुछ लग नहीं रही है, तो रहो परेशान। आज किसी ने कटु वचन कह दिये तो कलेजा फट गया। कल किसी ने मन की बात पूरी नहीं की तो पराधीनता से दुःखी हो गए। तो खातिर करते रहो शरीर की, खुशामद करते रहो संसार की। अपना कोई मूल्य नहीं रह जाता। मिट्टी के मोल जीवन हो जाता है।

आप मनुष्य हैं। आपको जीवनदाता ने यह प्रकाश दिया है जिसमें आप अपनी दुर्दशा को स्वयं देख सकते हैं। दूसरे लोग क्या कहेंगे—जाने दो। दूसरों की दृष्टि में आप कैसे दिख रहे हैं, छोड़ दो। उसकी परवाह मत करो। उनकी दी हुई शक्ति में जब अपनी दुर्दशा को देखा तो देख करके भीतर में बड़ी ग्लानि पैदा हुई कि अरे! आज मेरी यह दशा हो गयी कि इतनी छोटी-छोटी बातों के लिए जिसको ढंग से बोलना नहीं आता है, मेरी तुलना में जिसकी कोई हैसियत नहीं है, उसकी खुशामद मुझे करनी पड़ रही है। अगर यह दुर्दशा आपके दिल में चुभ गयी तो आपका कल्याण हो जायेगा। आपके भीतर एक चेतना जग जायेगी।

पराधीनता अपने को पसन्द नहीं है, तो स्वाधीनता कहाँ है? अगर यह शरीर और संसार की गुलामी अपने को पसन्द नहीं है तो स्वाधीनता का आनन्द कहां है? मैंने ऐसा अनुभव करके देखा है कि जिन भाई-बहिनों के जीवन में यह प्रश्न पैदा हो जाता है, उन्हें बड़े ही चमत्कारपूर्ण ढंग से अपने में ही विद्यमान आनन्द स्वरूप, ज्ञान-स्वरूप, प्रेम-स्वरूप जो अपने से अधिक अपना हितकारी है वह प्रकाश देने लगता है, मार्गदर्शन देने लगता है, आगे बढ़ने की शक्ति देने लगता है, विरक्त होने की सामर्थ्य देने लगता है और बिना किसी बाहरी सहायता के व्यक्ति को सूझने लगता है कि मुझे क्या करना चाहिए। तो बदल गयी बात।

अब मानव-जीवन का सुन्दर चित्र देखिए। क्या है कि जिन साथियों ने एक दिन के लिए भी अपनी प्रसन्नता की सब बातें पूरी नहीं की उन

साथियों की ओर से अपने को हटा लो। फिर अनेक बार इन्द्रिय-लोलुपता में पड़कर के अनेकों प्रकार के सुखों का भोग किया। सुख-भोगों के आधार पर शान्ति नहीं मिली, अविनाशी जीवन नहीं मिला, तो इन्द्रियों को विषय-विमुख कर लो। छोड़ दो सब। बहुत हो चुका है, अनेकों बार यह सब देख चुके। आज से एक नया जीवन आरम्भ करें। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। बहुत ही सामान्य स्तर की बात है कि जब व्यक्ति अपने द्वारा अपने जीवन के सत्य को स्वीकार करता है, तो मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर सब उसके अनुगामी होते हैं। तो इन्द्रियों को विषय-विमुख कर लेने से जब आपके भीतर शरीर की सहायता से देखे हुए दृश्य का सुख लेने की बात खत्म हुई कि फिर मन में किसी संकल्प-विकल्प के उठने का प्रश्न ही नहीं रह जाता। तो मन निर्विकल्प हो जाता है और अगर मन में कोई संकल्प-विकल्प ही नहीं है, तो बुद्धि भगवती फैसला किस पर देगी? तो बुद्धि सम हो गयी, शान्त हो गयी। उसके लिए कोई काम नहीं रहा।

जैसे ही व्यक्ति साथियों और सामानों से थोड़ी देर के लिए अपने को अलग करता है, तुरन्त उसके भीतर शान्ति की अभिव्यक्ति होती है, तुरन्त उसके भीतर योग की सामर्थ्य आती है। बल इतना जल्दी बढ़ता है, शान्ति इतनी जल्दी भीतर छा जाती है कि उस शान्ति में, मैंने अनुभव करके देखा है, अनेक जन्मों की थकान पाँच-दस मिनट के भीतर खत्म हो सकती है।

थकान शब्द तो समझते हैं न? रात-दिन की दशा अपनी देखो। कामनायें उपज रही हैं। उनको पूरी करने के लिए आप अपने आस-पास इधर-उधर देख रहे हैं। कहाँ वस्तु मिले? कहाँ सहायक मिले? कौन-कौन आदमी मिले जो मेरी यह बात पूरी करें? अनुकूलता नहीं दिखाई देती है। मन मार कर भीतर-भीतर अपने को रोक कर रखते हैं। तो मन मारकर

अतृप्त वासनाओं को भीतर-भीतर रोकने में जितना आदमी थकता है, काम करने में उतना नहीं थकता। एक जन्म की कौन कहे, कितने जन्मों से हम लोग अतृप्त वासनाओं को भीतर-भीतर रोक कर रखने का श्रम कर रहे हैं। इस श्रम का कभी अनुभव किया है? हर एक को करना पड़ता है। रोज दिन सामने आती है यह बात। भीतर से संसार के सहयोग से मिलने वाले सुख की वासना उठी और बाहर में उसकी पूर्ति का संयोग नहीं बन रहा है, तो उसको अन्दर-अन्दर रोक कर रखने में कितनी सूक्ष्म शक्तियों का ह्रास होता है! उसी के कारण ये शरीरिक और मानसिक रोग पैदा होते हैं। इस विषय को पढ़ने-पढ़ाने में इकत्तीस वर्ष का समय खराब किया मैंने। अब कहूँगी। उस समय तो खराब करने जैसा नहीं लगता था। लेकिन अब मैं कह सकती हूँ। तो वह सारी थकान आपकी थोड़ी देर की शान्ति में मिट जाती है। कब? जब अपने निज-विवेक के प्रकाश में अपनी दुर्दशा को देखा और उस दुर्दशा से निकलने के लिए प्राप्त सामर्थ्य के अनुसार पुरुषार्थ आरम्भ किया। प्राप्त सामर्थ्य के अनुसार जितनी सी सामर्थ्य आपके भीतर बची है, उतनी ही लेकर के आपने आरम्भ किया। विवेकी जब सब साथी व सामान से अपने को असंग करके बिल्कुल अकले हो जाते हैं तो उस शान्ति की भूमि में योग की सामर्थ्य आती है। फिर उस योग में से बोध और प्रेम की अभिव्यक्ति होती है और जीवन पूर्ण होता है।

एक दिन मैं बैठी थी और इस तरह के चिन्तन में अकेले में थी। जीवन को सामने रख कर सोच रही थी, इतना समय लगाया मैंने। एक ओर संसार का लगाव है, जिसको कि तोड़ना है। दूसरी ओर अविनाशी जीवन नित्य विद्यमान है। उसको पकड़ने के लिए कोई प्रयास नहीं करना है। केवल इनी सी बात है कि अगर इसके लगाव को तुम नापसन्द कर दो, इस ओर जो प्राण-शक्ति बह रही है, इसके दरवाजे को बन्द करके जरा सी देर के लिए विराम ले लो, तो देखो फिर क्या होता है? क्या

होता है? अपने ही में विद्यमान शान्ति अभिव्यक्त होकर रोम-रोम को भरपूर कर देती है। फिर उसके बाद और अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता है। वह जो वास्तविक जीवन है, वह जो अपना परम सत्य है, उसमें इतना घना आकर्षण है और इतनी असीम मधुरता है कि केवल उस शान्ति में एक मिनट की तो कौन कहे इससे भी कम समय के लिए आप ठहर गए तो फिर क्या है? प्रकाश ही प्रकाश है। असीम अनन्त आनन्द है। दिव्य जीवन है। आपका जो वह नित्य-जीवन है उसमें जन्म-मरण नहीं है। जिसमें सुख-दुःख नहीं है, जो आनन्द स्वरूप ही है, जो प्रेम रस से भरपूर है, उसमें आप अपने को पा करके ऐसा अनुभव करेंगे जैसे कि सृष्टि कभी थी ही नहीं। उसका कोई चिह्न (Trace) कहीं नहीं मिलेगा, उससे कभी कोई सम्पर्क की बात भी याद नहीं आवेगी। क्यों? क्योंकि जिस भ्रम से वह पैदा हुआ है उस भ्रम का नाश हो गया। तो जो सत्य है, प्रत्यक्ष है, वास्तविक है, यथार्थ है, वह आपके भीतर ही प्रकट हो गया। उसकी अभिव्यक्ति हो गयी। अथवा मैं यह कहूँ कि वह तो जहाँ का तहाँ, वैसे का वैसा था ही, उससे विमुख होने का दोष मैंने अपना मिटा दिया। हमारे लिए वह इतना प्रत्यक्ष है, इतना सत्य है, इतना ठोस है, इतना जोरदार है कि एक बार एक क्षण के लिए भी उसकी अनुभूति अपने में आ जाए तो पुराने संस्कारों का नाश करने के लिए पुनः पुनः शरीर से संग करके सेवा, त्याग इत्यादि करता रहा है व्यक्ति, परन्तु अपने उस सत्य स्वरूप को कभी भूलता नहीं। बड़ा अद्‌भुत लगता है। एकदम से स्वप्न देखने की तरह लगता है। अभी स्वप्न में देख रहे थे कि बड़ी भारी आपत्ति-विपत्ति में फँस गए हैं। अभी देख रहे थे कुछ और हो रहा है और अभी आँख खुली तो क्या देखा कि कहीं कुछ नहीं है।

कभी मत सोचना कि बहुत दिनों तक हम सत्संग सुनते रहेंगे, बहुत दिनों तक ग्रन्थ को पढ़ते रहेंगे, साधना, जप, तप ध्यान करते रहेंगे तब न जाने कब क्या होगा-ऐसी बात नहीं है। परम प्रेमास्पद प्रभु ने अपनी ही महिमा से अभिभूत होकर अपने ही प्रेम रस के विस्तार के लिए अपने ही

तत्त्वों से हम लोगों की रचना की है और हमारे लिए उस सत्य का, उस नित्य-जीवन का, उस परम प्रेम का मार्ग बिल्कुल प्रशस्त करके रखा है। बस, जरा सी बात है। एक बार हिम्मत करने की बात है। उसके बाद तो फिर कुछ अपने को करना नहीं होता। करने की बात यहीं समाप्त हो जाती है। सोचो कि अच्छा ! संसार से नाता-रिश्ता जोड़ करके उसके सुख-दुःख का खट्टा-मीठा स्वाद देख लिया। पर कुछ मिला नहीं। तो अब थोड़ी देर के लिए बाहर से भीतर हो जाओ। यदि आपका संकल्प है कि मैं बाहर से भीतर हो जाऊँ तो सच मानिए अपनी समर्थ मुट्ठी में आपको पकड़ कर बाहर से भीतर करने वाला आपसे अधिक तैयार है।

मैं बचपन में परमात्मा से इतनी नाराज रहती थी कि कभी उनकी कोई महिमा की बात सुन करके मुझको प्रसन्नता नहीं होती थी। कभी नहीं होती थी। लेकिन जब किसी भी प्रकार से उन्होंने मुझ को चैन लेने ही नहीं दिया—ऐसा जैसे कि मुझ से अधिक मेरी दुर्दशा से उनको तकलीफ हो रही हो—तो सब जगह से असन्तुष्ट हो कर सन्त के पास आकर बैठने के बाद ये सब बातें सामने आने लगीं। सन्देहात्मक दृष्टि से मैं सन्त-वाणी को सुनती थी। भीतर-भीतर विकल्प रख कर के उनकी बातों का प्रयोग करती थी—अब वे कह रहे हैं। अब करके देखो। जब तुम्हारे लिए सत्य हो तब जानो। नहीं तो क्या पता क्या है ? कैसा है ? इतना विकल्प लेकर के मैंने सन्त की वाणी का अनुसरण करना आरम्भ किया। तो क्या किया ? मैं क्या कहूँ ? कुछ नहीं किया। जितना उन्होंने कहा उतना मैंने सुना नहीं, जितना सुना उतना समझा नहीं, जितना समझा उतना माना नहीं, जितना माना उतना किया नहीं। मैं अपनी बात कर रही हूँ और हो सकता है मेरी तरह और भी बहुत से भाई-बहिन करते हों।

उस परम प्रेमास्पद के स्वरूप ही आप सबको देखते हुए मैं किसी को गैर नहीं मानती हूँ। उनके अतिरिक्त और किसी की सत्ता नहीं है। वे

स्वयं ही श्रोता के रूप में दर्शन दे रहे हैं। इस नाते मैं यह बात आपकी सेवा में निवेदन कर रही हूँ कि एक बार कदम उठा कर देखो। एक बार साहस करके देखो। भीतर ही भीतर अपने में ही वह नित्य-जीवन विद्यमान है। उसकी विद्यमानता की मिठास आपके अनुभव में न आ जाय तब फिर कोई दूसरी बात सोचना। प्रत्यक्ष किस-किस रूप में, यह तो वे जानें। जिसमें मेरा हित है, जिसमें मेरी प्रगति होगी, जिससे मेरा कल्याण होगा—इसकी पूरी जानकारी उनको है। और जब से उन्होंने अपनी हितैषिता का परिचय मुझ को दिया, उसके बाद से उनके बारे में सोचना मैंने छोड़ दिया। अब क्या सोचें? सोचने की आवश्यकता नहीं रह गयी।

मानव का जो जीवन है वह बड़े ऊँचे उद्देश्य से रचा गया है और बड़ी अच्छी योजना है उसकी। कैसे वह सर्व दुःखों का अन्त कर सकता है, कैसे वह जन्म-मरण की बाध्यता से छूट सकता हैं, कैसे वह अपने नित्य-जीवन से अभिन्न हो सकता है, कैसे वह परम प्रेमास्पद के प्रेम रस से भरपूर होकर जन्म जन्मान्तर की सारी अतृप्ति को मिटा कर स्वयं ऐसा रस स्वरूप हो सकता है और उसके हृदय में प्रेम भाव का रस लेने के लिए वह अनन्त परमात्मा, वह रस स्वरूप परमात्मा, आकर उसके सामने प्रस्तुत हो सकता है, प्रकट हो सकता है, खेल सकता है, बातें कर सकता है, उसको रस दे सकता है और उसके दिए हुए रस को ग्रहण करके अपने को प्रसन्न कर सकता है। ऐसा हो सकता है और इसी जन्म में हो सकता है। इसके लिए भविष्य के आधार पर हम लोगों को और अपना समय खराब नहीं करना चाहिए। हम सभी अपने ही द्वारा अपना उद्धार कर सकते हैं।

•••••

प्रवचन 2

उपस्थित महानुभाव, सत्संग-प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

हम सब लोग मानव-जीवन के तथ्यों पर विचार कर रहे हैं। किसलिए? इसलिए कि हम सब लोग मानव हैं और इस बात में सजग हैं कि हमारी समस्याओं का समाधान इसी जीवन में होना चाहिए, इसी वर्तमान में होना चाहिए। इस दृष्टि से हम सब लोग जीवन पर विचार कर रहे हैं।

विचारणीय विषय यह है कि हम सब सुनते हैं जबकि अनुभवी जनों ने इसे अनुभव किया है। ऋषियों-मनीषियों ने इस सत्य को ग्रन्थों में लिख कर रखा है और हम सब लोग अपने भीतर से आवश्यकता भी अनुभव करते रहते हैं। किस बात की? कि जन्म-मरण की बाध्यता मिट जाय तो अच्छा है। हम जन्म लेने के लिए भी बाध्य होते हैं और मरने के लिए भी बाध्य होते हैं। किसी-किसी समय कोई-कोई व्यक्ति जीना चाहता है और उसे मरना पड़ता है और किसी-किसी समय शरीर इतना दुःख देने वाला हो जाता है रोग से बेबसी में कि आदमी मरना चाहता है और जीना पड़ता है। इसको मैं बेबसी कहती हूँ। जीना चाहे और जी न सके, मरना चाहे और मर न सके। ऐसी दशा किसी भाई-बहिन को पसन्द होगी?

हम सभी सचेत होने के कारण अपनी इन दशाओं से परिचित हैं। हर भाई-बहिन के भीतर यह बात उठती रहती है कि किसी प्रकार से अपनी यह बेबसी खत्म हो जाय तो अच्छा है। जन्म-मरण की बाध्यता खत्म हो जानी चाहिए अर्थात् बेबसी और पराधीनता मिट जानी चाहिए, ऐसा मैंने सन्तवाणी में सुना है और अपने द्वारा विचार करके देखा, तो इस बात का पता चला कि मृत्यु जो होती है उसमें केवल स्थूल शरीर का नाश होता है जबकि सूक्ष्म शरीर साथ में रह जाता है और कारण शरीर भी साथ में रह जाता है। आप जिस धातु से बने हुए हैं उसका नाश मृत्यु नहीं कर

सकती। शरीर बना है बनने-बिगड़ने वाली धातुओं से, अर्थात् भौतिक तत्त्वों से शरीरों की रचना होती है, इसलिए इनमें निर्माण और विनाश का क्रम चलता है और आप बने हैं अलौकिक तत्त्वों से, इसलिए आपका नाश नहीं हुआ है और न कभी होगा।

स्वामी जी महाराज से कभी किसी ने पूछा कि महाराज! आपकी उम्र क्या है? तो उन्होंने उत्तर दिया कि 'आदि सृष्टि उपजाई जब ते' यह मेरी उम्र है। सबसे पहले पहल जब सृष्टि बनी होगी तब से मैं बना हूँ और भैया वर्षों की तो मुझे मालूम नहीं है तुम गिन लेना कि कितने दिन की पुरानी सृष्टि हुई। तुम उम्र का हिसाब लगा लेना।

ऐसे ही आप विचार करके देखेंगें तो आपको भी ऐसा लगेगा कि मैंपन की रचना जो है—जिसको हम लोग 'मैं' कह कर सम्बोधित करते हैं उसकी रचना किसी भौतिक तत्त्व से नहीं हुई है, इसलिए उसमें आदि-अन्त का प्रश्न नहीं है। भौतिक तत्त्वों से जिन शरीरों की रचना होती है उनके लिए जन्म और मरण की सीमा है। वे एक प्राकृतिक विधान से बनाए जाते हैं—अणु-परमाणुओं के गठन से बन जाते हैं और काल व्यवधान से अणु-परमाणुओं का गठन बिखर जाता है तो हम लोग उसको मृत्यु कहते हैं। वस्तुतः हमारी आपकी मृत्यु नहीं है। यह बात मुझे बहुत अच्छी लगती है। बहुत ही बल देने वाली है और मृत्यु के भय से छुड़ाने वाली है। यदि आपको अपने स्वरूप पर विचार करने का अवसर मिले और इसको आप पसन्द करें, इन तथ्यों पर विचार करके अपने ही विवेक के प्रकाश में इस सत्य को स्वीकार करें, तो बड़ा ही उपकार हो जायेगा। अपनी मृत्यु के भय से मुक्त हो जायेंगे। महाराज जी की प्रणाली में इसको जीवन कहते हैं, योगी लोग उसे परम तत्त्व कहते हैं, ज्ञानी लोग उसे निज स्वरूप कहते हैं, भक्तजन उसको निज प्रभु कहते हैं। उसमें दुःख का लेश नहीं है। तो आज प्रातः की इस बैठक में हम लोग इस विषय पर विचार

करें। चूंकि इस 'मैं' की रचना अविनाशी तत्त्वों से हुई है इसलिए इसका नाश नहीं होगा और शरीर की रचना भौतिक तत्त्वों से हुई है इसलिए उसका नाश अवश्य होगा। तो यह जानकारी हम लोगों को सचेत करने वाली होनी चाहिए। इस बात की जानकारी कि शरीरों का नाश अवश्य होगा, क्योंकि नाशवान इसका स्वरूप ही है। हमने अपनी आँखों से अनेक शरीरों का नाश होते हुए देखा है। इतना ही नहीं, इस एक ही शरीर में कितने परिवर्तन होते जा रहे हैं। तो नाश के कितने लक्षण हमने देखे हैं।

सन्त की वाणी में मैंने सुना। वे कह रहे थे कि भाई, वहाँ से चिट्ठियाँ तो आती हैं। तुम पढ़ते नहीं हो, तो क्या किया जाए? अच्छे-अच्छे दाँत खाने का बहुत सुख दे रहे थे। तो उन्होंने तुमसे विदाई ले ली। बिना सूचना दिए, बिना तिथि निश्चित किए एक दाँत टूट करके गिर गया। एक पत्र तो आ गया कि नाश होना आरम्भ हो गया। तुम चिट्ठी पढ़ते नहीं हो, तो क्या किया जाय? वहाँ से समाचार तो आता ही रहता है कि नाश हो रहा है, प्रतिदिन हो रहा है। हर श्वास के साथ प्राणशक्ति का ह्रास हो रहा है। तो अपनी जो यह जानकारी है, हमारी इस जानकारी का प्रभाव अपने पर होना चाहिए। क्या प्रभाव होना चाहिए कि जिस शरीर का स्वरूप ही निर्माण और विनाश है उस शरीर का सहारा लेकर हम लोगों को नहीं जीना चाहिए। वह जीवन ही क्या जो मरणशील शरीर के आश्रित हो। जो नाशवान शरीर के आश्रित हो जायेगा वह जीवन कहलायेगा? नहीं कहलायेगा। इसलिए यह हमारा अपना जाना हुआ तथ्य है, तो इसका प्रभाव अपने पर होना चाहिए। क्या प्रभाव हो? कि स्वयं अपने लिए, अपने अस्तित्व के लिए, अपने निज स्वरूप के लिए शरीरों का सहारा मत लो। एक लाभ तो यह तत्काल हो गया। ग्रन्थों में पढ़िये और सन्तों की वाणी में सुनिये और अनुभवी सन्तों के जीवन के सम्पर्क में अपने को रखिये। तो इन सारी बातों से यह बल आपको मिलेगा कि भाई, जो स्वयं

नाशवान है उसका सहारा हमको नहीं लेना चाहिए। तो सहारा नहीं लेंगे। शरीर को जीवन नहीं मानेंगे, शरीर को अपना नहीं मानेंगे, शरीर को अपने लिए नहीं मानेंगे। तो इतने ही सत्य की स्वीकृति में आपकी समस्याओं का समाधान हो जायेगा।

मृत्यु का भय क्यों है? अपने अनुभव के आधार पर स्वामी जी महाराज ने हम लोगों को बताया कि भाई, मृत्यु भय देने वाला तथ्य नहीं है। मृत्यु स्वयं दुःख देने वाला तथ्य नहीं है। दुःख क्यों होता है? भय क्यों होता है? दुःख और भय तो इसलिए होता है कि चूँकि हम शरीर को रखना पसन्द करते हैं, उस पर अपने को आश्रित रखते हैं, इसलिए उसके नाश का भय होता है। अन्यथा जिन्होंने प्राप्त शरीर का सदुपयोग कर लिया और स्वयं आश्रय को छोड़ कर निज स्वरूप में स्थित हो गए अथवा निज प्यारे प्रभु के प्रेम में मस्त हो गए, उनको तो पता भी नहीं चलता है कि कब शरीर है और कब नहीं है। मृत्यु का भय प्राकृतिक बात नहीं है। मृत्यु का भय हमारी भूल का परिणाम है। तो, जो अपनी भूल का परिणाम है उसको हम लोग मिटा सकते हैं।

एक जगह सत्संग में बहुत सी महिलायें मुझे मिलीं। वे लोग बड़ा बढ़िया भजन गा रही थीं—'अमर आत्मा सच्चिदानन्द मैं हूँ।' मैंने सोंचा कि बात तो बिल्कुल सही है और बहुत बढ़िया है। लेकिन जो बैठकर गा रही हैं कि अमर आत्मा सच्चिदानन्द मैं हूँ, उनको यह भी देखना चाहिए कि उनके अन्दर मृत्यु का भय है कि नहीं। अगर वे मरने से डरती हैं तो दोनों बातें एक साथ कैसे बनेंगी? अमर आत्मा सच्चिदानन्द मैं हूँ, यह बात भी सही है और इस बात को कहने वाला यदि मृत्यु के भय से भयभीत है, तो सच्चिदानन्द कहने का कोई अर्थ नहीं निकला। तो आज हम सभी सत्संगियों के सामने, सभी भाई-बहिनों के सामने एक बड़ा जोरदार प्रश्न है। वह क्या है कि शरीर नाशवान है और 'मैं' अविनाशी तत्त्वों से बना हुआ है, इसलिए उसका नाश नहीं होगा। इस सत्य को हम सब लोग

अपने द्वारा अपने में अनुभव करके मृत्यु के भय से मुक्त हो जाएँ और अविनाशी तत्त्व से मिल कर सदा-सदा के लिए अमरत्व के आनन्द का अनुभव करें। यही प्रश्न है।

सच पूछिये तो मानव-जीवन का यही मुख्य प्रोग्राम है और दूसरे सारे कार्यक्रम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। हम लोगों ने बड़ी-बड़ी योजनायें बनाई, बहुत सा प्रोग्राम बनाया और बहुत को पूरा किया और बहुत से अभी बाकी भी हैं। अगर यही क्रम चलायेंगे तो मरने की घड़ी तक नये-नये प्रोग्राम बनते ही रहेंगे और जो बाकी रह जावेंगे उनको पूरा करने के लिए शरीर के नाश के बाद फिर से शरीर धारण करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। तो फिर मानव जीवन में वर्तमान का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रोग्राम क्या होना चाहिए कि जो नाशवान है उसके नाश के भय से हम लोग मुक्त हो जायें और जो अविनाशी है उस तत्त्व से अभिन्न हो कर आनन्दमय हो जायें। यह कार्यक्रम, यह प्रोग्राम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है—*Essential* है और इसी वर्तमान में पूरा करने का है। और, इस जीवन की सार्थकता इसी प्रोग्राम के पूरा होने में है अन्यथा और कोई बात पूरी होने वाली नहीं है। यह प्रोग्राम पूरा कैसे होगा? तो, जीवन का एक सत्य हम लोगों के सामने आया। अब उसकी पूर्ति के लिए साधन की चर्चा होगी, उपायों की चर्चा होगी कि किस उपाय से हम लोग इस प्रोग्राम को पूरा कर सकते हैं।

पहली बात, आज सन्तवाणी में आपने सुना कि महाराज जी कहते हैं कि भैया, जिन संकल्पों को लेकर तुम अनेक जन्मों से भटक रहे हो, जिन संकल्पों को लेकर इतनी अशान्ति तुम सह रहे हो, उन संकल्पों को जीवन में मत रखो। यह पहला एक उपाय हम लोगों के सामने आया। ऐसा नहीं कि इतने दिन उपवास करना, इतने दिन नंगे रहना, इतने दिन प्यासे रहना, इतने दिन एक स्थान पर बैठे रहना—यह नहीं। तो कौन सी बात क्या उपाय है अपने लोगों के लिए कि, जिन संकल्पों को रख कर

हम अनेक जन्मों से भटक रहे हैं, अशान्ति का दु:ख भोग रहे हैं, उन संकल्पों को जीवन में से निकाल दो, खत्म कर दो और नि:संकल्प हो जाओ।

एक उपाय आया हम लोगों के सामने। मैंने एक बड़े पुराने दार्शनिक खलील जिब्रान का साहित्य पढ़ा। वे उस परम्परा में हुए जहाँ पुनर्जन्म नहीं माना जाता। अपने संगी साथियों के साथ सत्संग के क्रम में अपने अनुभव बताते हुए उन्होंने यों लिखा कि देखो भाई, हम सब लोग इस दुनिया में आये और बड़े प्रेम से परस्पर एक-दूसरे के साथ रह कर जीवन के सत्य की खोज की। अब आखिरी बात मैं आप लोगों की सेवा में निवेदन कर रहा हूँ कि जीवन काल में अगर हमारा काम पूरा हो गया तो बड़े आनन्द की बात होगी और हमारा काम पूरा नहीं हुआ तो हम कुछ दिन हवा में डोलेंगे और फिर हमारी इच्छा शक्ति मिट्टी-पानी इकट्ठा करेगी और उसके बाद हमें तुरन्त ही किसी माता के द्वारा इस दुनिया में आना पड़ेगा। यह उसने लिखा भूल क्या है? तो भूल यह है कि शरीर को धारण करके इसकी सहायता से दृश्य जगत् के संयोग का सुख हम पसन्द करते हैं। उस पसन्दगी के कारण अनेक प्रकार के संकल्प उदित होते हैं। उन संकल्पों के कारण अपनी शान्ति भंग हो जाती है। शान्त नहीं रह सकते, तो निश्चिन्त नहीं रह सकते। इसक पीछे अगर कारण की खोज करो तो कारण है, शरीर और संसार के संयोग से सुख लेने की इच्छा। इसमें घोर अशान्ति है।

शरीर विज्ञान और मनोविज्ञान, ये तो शरीर से सम्बन्ध रखने वाले अध्ययन हैं। तो इन दोनों के अध्ययन से मैंने पाया कि मनुष्य के व्यक्तित्व में एक सन्तुलित अवस्था है। एक *Homeostasis* है जिसमें कि स्वभाव से ही अपना जीवन अपने को अच्छा लगता है। लेकिन जिस समय मनुष्य के भीतर किसी अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की इच्छा पैदा हो जाती है तो उसके व्यक्तित्व का *Equilibrium disturbed* हो जाता है, उसका सन्तुलन बिगड़ जाता है। वह अपनी शान्ति से बिछुड़ जाता है। मस्तिष्क में एक

तनाव की दशा पैदा हो जाती है। एक *Mental tension* उत्पन्न हो जाता है। वह मेंटल टेन्शन व्यक्ति को शान्त नहीं रहने देता। अनेक प्रकार के विचार उदित होने लगते हैं—यहाँ जायेंगे, वहाँ जायेंगे, इससे कहेंगे, उससे कहेंगे, ऐसा उपाय करेंगे कि वह वस्तु मुझको मिल जाए। मेरी यह इच्छा पूरी हो जाए। तो इच्छाओं की उत्पत्ति मात्र से व्यक्ति अपना सन्तुलन खो देता है, इस बात का आपने अनुभव किया होगा अपने द्वारा। और, सामान्य दशा में भले न अनुभव में आता हो लेकिन आप भाई-बहिन सत्संगी हैं और सत्संग को पसन्द करते हैं। मैं आशा करती हूँ कि किसी-न-किसी रूप में सभी भाई-बहिन कुछ-न-कुछ साधना जरूर करते होंगे। थोड़ी-थोड़ी देर के लिए शान्त रहने की साधना, प्यार करने की साधना, भगवत-चिन्तन की साधना—यह सब आप लोगों के जीवन में विविध रूप में कुछ न कुछ चलती होगी जरूर। जिसके जीवन में किसी न किसी प्रकार की साधना चलती है उन भाई-बहिनों को *First hand knowledge* है, इस बात का पक्का अपने द्वारा अनुभव है कि जब शान्त होना पसन्द करो तो कितना अच्छा लगता है। अगर भीतर से बाहर से सब प्रकार की गति रुक जाए कुछ देर के लिए—यह तो स्थूल भाषा हुई और कुछ देर के लिए किसी प्रकार की गति उत्पन्न न हो, तो उस दशा में व्यक्ति को बहुत अच्छा लगता है और उसी समय अगर कोई दुनियाँ की बात याद आ गयी कि अमुक काम बाकी रह गया, इनसे मिलना बाकी रह गया, यह वस्तु लाना बाकी रह गया, इस बीमारी के इलाज का काम बाकी रह गया, यह पेमेंट बाकी रह गया, यह सब अगर याद आ गया उसी समय, तो शान्ति-काल में जो आपको भीतर से अच्छा-अच्छा लग रहा था वह बना रहता है कि बिगड़ जाता है? बिगड़ जाता है। तो देखो उसको भूलना नहीं। यह जानकारी हम लोगों की, जो अपनी जानी हुई बात है, इस बात का अपने स्तर पर प्रभाव होना चाहिए। क्या प्रभाव होना चाहिए?

अनुभवी सन्त कह रहे हैं कि अपने संकल्पों के फेर में ही तो अनेक

जन्म बर्बाद किए। इन संकल्पों की उत्पत्ति से ही तो हम शान्ति से वंचित हो जाते हैं। अपने संकल्प की पूर्ति का सुख हमें चाहिए। संकल्प-पूर्ति के सुख के फेर में पड़ा हुआ आदमी कर्त्तव्य को भूल जाता है, माता-पिता को भूल जाता है, धर्म को भूल जाता है, परमात्मा को भूल जाता है और मुझे तो कभी-कभी ऐसा लगता है कि आदमी 'आदमी' नहीं रह जाता। जब हमारे भीतर संकल्प-पूर्ति का वेग उठता है तो हम संसार में किसी काम के लायक नहीं रह जाते। संसार के बन्धन से मुक्त होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है और परमात्मा को तो रहने दो गोलोक में, साकेत में आराम करने दो, अपने लिए तो कुछ मतलब ही नहीं रह जायेगा। इसलिए भाई मेरा तो ऐसा निवेदन है कि हम सब लोग सत्संग करते ही हैं। सत्संग सुनना पसन्द करते हैं। सच्ची बात को कहना पसन्द करते हैं। सच्ची बातों को पुस्तकों में से पढ़ना पसन्द करते हैं तो एक कदम और आगे भी हमारी पसन्दगी बढ़नी चाहिए और वह क्या है कि इस जीवन को प्रयोग में डालना भी पसन्द करो।

प्रयोग (*Experiment*) के लिए सबसे बढ़िया विषय-वस्तु (*Subject Matter*) है अपना जीवन जैसा कि यह आज है। आज मैं ब्रह्मस्वरूप की चर्चा नहीं कर रही हूँ। मैं प्रेमस्वरूप की बात नहीं कर रही हूँ। ब्रह्मस्वरूप, प्रेमस्वरूप, ज्ञान स्वरूप और शान्ति स्वरूप तो हम लोग भविष्य में होंगे। आज मैं किस की चर्चा कर रही हूँ? अपनी इस दशा की कि जिस दशा में हम सब लोग बैठे हैं कि भीतर में सुख-दुःख का द्वन्द्व भी चल रहा है कामनाओं की पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख का प्रभाव भी अंकित हो रहा है और साथ-साथ में सत्य की जिज्ञासा भी है। वास्तविक जीवन की खोज भी है, शान्ति की माँग भी है और प्रभु-प्रेम के मधुर रस की प्यास भी है। तो यह जो हमारी मिली-जुली दशा चल रही है, इस दशा में मैं कह रही हूँ कि फिर भी हम लोग जीवित व्यक्ति हैं। हमारे

भीतर जीवन है और मेरे भीतर वह सत्य भी विद्यमान है कि जिसके आधार पर हम अस्तित्ववान हैं। हमारे भीतर वह ज्ञान का प्रकाश भी विद्यमान है कि जिस प्रकाश में नाशवान संसार को हम लोग नाशवान कहते हैं। हमारे भीतर वह परम प्रेमास्पद भी विद्यमान है कि जिसके मधुर प्रेम रस की प्यास हम सब लोग आज इस वर्तमान क्षण में अपने द्वारा अनुभव कर रहे हैं। दोनों ही बातें हो रही हैं। शरीर को लेकर कामनाएँ भी हमारे भीतर हैं और परमात्मा को लेकर उसके मधुर प्रेम रस की प्यास भी है। सत्य को लेकर उस सत्य की जिज्ञासा भी है। तो, ऐसी विलक्षण रचना है मनुष्य की कि जिसमें बड़ी सामर्थ्य है।

अब हम लोगों को करना क्या चाहिए? तो एक-एक प्रश्न अपने सामने रखो। पसन्दगी अपनी। एक कदम और आगे बढ़ाओ कि आज हम जैसे हैं ऐसे ही अपने को प्रयोग में डालें। अपने ऊपर प्रयोग करें। जीवन पर प्रयोग करने की सबसे बढ़िया विषय वस्तु (*Subject Matter*) है आपका स्वयं *(self)*। कौन सा *Self*? कौन सा अहं? जो आज असत्य की आसक्ति से—असत्य भी क्या कहें, असत्य तो नहीं कहना चाहिए—संसार की आसक्ति से दुःख-द्वन्द्व में फँसा हुआ है और सत्य की जिज्ञासा से ज्ञान और प्रेम की साधना में लगा हुआ है—ऐसा जो आपका अहं है, ऐसा जो मेरा व्यक्तित्व है। ऐसा जो हमारा-आपका अपना एक *Self* है, इसको प्रयोग (*Experiment*) में डालने की बात है। स्वामी जी महाराज के मुख से मैंने सुना था। कहने लगे एक बार कि देवकी जी, अगर सब प्रकार से दुःख से भरा हुआ कोई साधक मुझे मिल जाए, कोई व्यक्ति मुझे मिल जाय, तो उस व्यक्ति के जीवन को लेकर के उस पर सत्य का प्रयोग करने में मुझे बड़ा आनन्द आता है। बड़ा आनन्द आता है। और एक उदाहरण है—

वृन्दावन में एक आश्रम है। उस आश्रम की अधिष्ठात्री माता,

पहले-पहले जिनके लिए आश्रम बनाया गया और जिन्होंने अपनी साधना का प्रयोग किया, तो उन माताजी का हाल स्वामी जी महाराज बताते थे कि बाल विधवा स्त्री थी। देखने में कुरूप थी। पढ़ी-लिखी कुछ नहीं और पास में एक पैसा नहीं। दुनिया में कोई मदद करने वाला नहीं। लेकिन उनके भीतर सत्य की जिज्ञासा, प्रभु प्रेम की प्यास थी। पैसा नहीं, अच्छा स्वास्थ्य नहीं, पति, पुत्र, संतान नहीं। कोई दुनिया में देखभाल करने वाला नहीं। यह बाहर की परिस्थिति। तो महाराज जी बताते हैं कि देवकी जी, हमको तो ऐसा जीवन लेकर के बड़ा आनन्द आता है। क्या आनन्द आता है कि सब प्रकार के दुःख से भरा हुआ जीवन, उस पर मैं सत्य का प्रयोग करूँ और मेरे देखते-देखते उसके दुःख का नाश हो जाय, तो बड़ा आनन्द आता है। इसका प्रमाण क्या है कि उन माताजी का शरीर जब नष्ट होने को आया, बहुत कमजोर हो गया, तो महाराज जी ने उनसे पूछा कि माताजी ! तुम्हारा शरीर अब नहीं रहेगा, तो तुमको इस बात का ख्याल नहीं आता है कि तुम्हारे स्नेह से पलने वाले इन बच्चों को, साधकों को कष्ट होगा ? तो कहने लगीं—नहीं महाराज मुझे तो नहीं ख्याल आता है। तो, स्वामी जी ने कहा कि माताजी, मुझे तो ख्याल आता है कि तुम्हारे शरीर के न रहने से आश्रमवासी साधकों को कष्ट होगा। तो माताजी हँसकर कहती हैं कि महाराज जी ! आपने अपने चेले-चपाटी बनाये होंगे तो आपको ख्याल आता होगा, मुझे तो कोई ख्याल नहीं है। तो महाराज जी बड़े प्रसन्न हो गये। कहने लगे, मेरा प्रयोग तो सिद्ध हो गया। मैं तो यही देखना चाहता था कि संसार के दुखों से घिरा हुआ जीवन ! शरीर के नाश होने के पहले उसके भीतर का सब दुःख नाश हो गया। बड़ा आनन्द आ गया। उसके बाद उन्होंने कहा कि माताजी ! जब तुम्हारा शरीर नाश हो जायेगा तो कुछ तो बता के जाओ कि इसका क्या किया जावेगा। एक प्रकार से यह परीक्षा ही थी और क्या था ? महाराज उनसे पूछते जा रहे थे। मैं मौजूद थी वहाँ। बता के तो जाओ, क्या किया जायेगा ? तुम्हारा

क्या संकल्प है? तो कहने लगी कि जिसको बदबू लगेगी उठाकर फेंक देगा। मेरा क्या है? मेरा कोई संकल्प नहीं है। तो महाराज जी बहुत आनन्दित हो गये। मिल कर के हम लोग चलने लगे। जब स्वामीजी महाराज कुछ दूर चले गये, दो चार कदम तो उन्होंने फिर पुकारा—स्वामी जी महाराज! कृपा करिये। एक बार वापिस आइये तो सही। तो महाराज जी वापिस आ गये। पीछे-पीछे मैं भी आ गयी। तो कहने लगीं कि देखिये, आप जा रहे हैं, जाइये जिस तरह से मिले हुए हैं उसी तरह से मिले रहियेगा। उसके बाद किसी तरह से कठिनाई से सिर उठाने लगीं कि अच्छा महाराज एक बार चरण वन्दना तो कर लेने दो! गुरु मानती थीं स्वामी जी महाराज को वे। उनको शुद्ध बोध कराया था। उनका नाम रख दिया था शुद्धबोध। कहने लगीं कि एक बार चरणवन्दना तो कर लेने दो। शरीर इतना दुर्बल हो गया है कि उठा नहीं जाता। स्वामी जी महाराज ने अपना चरण उठाकर उनके सिर पर रख दिया। कहा कि लो माता जी तुम्हारा ही है, कर लो वन्दना। ऐसे गुरु और शिष्य! ऐसे वीतराग पुरुष का प्रयोग, ऐसी वीतराग के शिष्य का आनन्द देख मुझे तो आनन्द आ गया। वे कहती हैं—जा रहे हो। जाओ, लेकिन जैसे मिले हो, मिले रहना। और कौन सा तत्त्वज्ञान बाकी रहा, बताओ? पूरा हो गया न। उसके बाद बुलाकर कहती हैं—महाराज चरण वन्दना कर लेने दो। तो महाराज पाँव उठाकर उनके सिर पर रख देते हैं। उठ नहीं सकती थीं। कैसे उठेगीं? कैसे चरण स्पर्श करेंगीं? महाराज जी ने ही पाँव उठाकर उनके सिर पर रख दिया और कहा कि लो माताजी तुम्हारा ही है। हमारा नहीं है। तो ऐसे देहातीत जीवन का आनन्द पाना हमारे-आपके लिए इसी वर्तमान में सम्भव है।

ऐसा कैसे हुआ? जैसे स्वामी जी महाराज ने बताया कि जीवन पर प्रयोग करो। किस का प्रयोग करें? सत्य का प्रयोग करो। सत्य क्या है? सत्य तो वह है कि जिसकी अपने लोगों को माँग है। माँग किस बात की

है ? तो, अपने को परम शान्ति चाहिये। अपने को अमरत्व चाहिए। अपने को परम प्रेम चाहिए। तो, शान्ति की माँग है, अमरत्व की माँग है, परम प्रेम रस की माँग है। शान्ति अमरत्व और प्रेम यह तो सत्य है। यह अस्तित्व है। इसकी सत्ता है। इसमें नाश होने का दोष नहीं है। हम लोग जो इस समय झेल रहे हैं कभी हँसी, कभी खुशी, कभी हर्ष, कभी विषाद—यह हमारी भूल का परिणाम है। तो अपनी भूल को मिटा करके इन दशाओं से मुक्त हो जाना और जो सत्य है उससे अभिन्न हो जाना यही अपना प्रोग्राम है। इस प्रोग्राम के लिए अपने को पुरुषार्थ करना है। क्या पुरुषार्थ करना है ?

अब इस पर भी थोड़ा विचार कर लें। क्या पुरुषार्थ करेंगे ? तो एक पुरुषार्थ करें—जिसकी सलाह स्वामी जी महाराज ने दी—(आज एक की चर्चा हो पायेगी)। कहते हैं कि जिन संकल्पों के शेष रह जाने के कारण तुम्हें जन्म लेने के लिए बाध्य होना पड़ा उन संकल्पों को छोड़ दो। ऐसे मैंने साधना के क्रम में अनुभव करके देखा है, जिसके आधार पर आपकी सेवा में निवेदन कर रही हूँ। क्या अनुभव करके देखा है कि जिस समय आपको कर्म को छोड़कर स्थूल शरीर से *Free* होना है और चिन्तन को छोड़कर सूक्ष्म शरीर से असंग होना है और कारण शरीर की स्थिरता से भी आगे अपने को जाना है, ऐसा लक्ष्य सामने रख कर थोड़ी देर के लिए आप चुप हो जाते हैं, शान्त हो जाते हैं, बिल्कुल अकेले में तो उस अकेलेपन की घड़ी में बड़ा आनन्द मालूम होता है। जीवन-तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है, जिसके सम्बन्ध में हम सब लोगों के भीतर अनेक प्रकार का कौतूहल भरा हुआ रहता है। वह जीवन आपके भीतर प्रकट होता है।

उस शान्ति-काल में शान्ति से आगे जाने का अनुभव उस समय तक मुझे नहीं था। लेकिन केवल उस शान्ति-काल में मैंने ऐसा देखा कि पुराने संस्कार के प्रभाव से एक दम संसार की कोई बात याद आ गई तो

संसार भासित होने लगा। जब तक संसार के सम्बन्ध की याद नहीं थी तब तक न शरीर था, न संसार था। यह मैं कल्पना नहीं सुना रही हूँ। यह मनुष्य के जीवन का ठोस सत्य सेवा में प्रस्तुत कर रही हूँ। स्थूल प्रवृत्तियों को छोड़ दी तो शरीर से सम्बन्ध टूट गया। चिन्तन की आसक्ति छोड़ दी तो चिन्तन से सम्बन्ध टूट गया। सम्बन्ध टूटता जाता है तो संसार लुप्त हो जाता है। न शरीर रहता है, न संसार। एक शान्तिमय अस्तित्व में आप अपने को अनुभव करते हैं। उस शान्ति-काल में मैंने अनुभव किया कि जब तक संसार के सम्बन्ध की कोई बात दिमाग में आई नहीं, प्रकट नहीं हुई, अहं में उसका स्फुरण नहीं हुआ, तब तक विलक्षण जीवन था, विलक्षण शान्ति थी, आनन्द था। कैसे संकल्प का स्फुरण हुआ? मैं कह नहीं सकती। लेकिन जैसे ही संकल्प स्फुरित होता है और अहं में से स्फुरित होकर मन के स्तर पर आकर प्रकट होता है, प्रकट हुआ नहीं कि एक दम से जादू-मन्तर लग जाने की तरह शरीर का भी भास होने लगता है, संसार भी दिखाई देने लगता है। विविध रूप-आकृतियाँ भी दिखाई देने लगती हैं। ऐसा चमत्कार है कि एकदम पलक मारते ऐसा लगता है कि यह तो है संसार की हलचल वाली जिन्दगी। और एक बार आपने अपनी ओर से शान्ति को पसन्द किया नहीं कि इसके पार की अलौकिक जिन्दगी!

संतों के मुख से पहले मैंने सुना था कि फूल के तोड़ने में देर लगती है, पर सत्य से अभिन्न होने में देर नहीं लगती। संत की वाणी में विश्वास है, मेरी आस्था है कि अनुभव के आधार पर जो वे कहते हैं वह सत्य है। लेकिन उस सत्य को हम अपना सत्य कहकर जान सकें, अपने द्वारा अनुभव कर सकें, यह बात तो तभी सिद्ध होती है जब जीवन पर प्रयोग करें। तब न परिणाम निकले! केवल एक ही उपाय आज की चर्चा में आया कि संकल्पों के फेर में मत पड़े रहो।

अब मैं आपके साथ मिलकर आपकी कठिनाइयों की चर्चा कर लूँ।

आप कहेंगे और आप जैसे अन्य भाई-बहिन मुझसे कहते हैं, मैं भी इसमें शामिल हूँ, कि भाई हम तो घर-गृहस्थी वाले लोग हैं। सब कारोबार में फँसे हुए हैं। यदि सोचेंगे नहीं, योजना नहीं बनायेंगे, संकल्प नहीं रखेंगे, तो काम कैसे चलेगा। तो स्वामी जी महाराज की प्रणाली की एक विशेषता मुझे मालूम होती है। वे साधक की कठिन से कठिन परिस्थिति के स्तर पर आकर वहाँ से उपाय बताते हैं। यह नहीं कहते कि तुमसे नहीं होगा। वे कहते हैं कि जब तुम्हारे भीतर संकल्प आवे, तो थोड़ी देर के लिए तुम शान्ति से उस पर विचार कर लो। क्या विचार कर लें? कि यदि अपने व्यक्तिगत सुख से सम्बन्ध रखने वाले संकल्प उठें, तो उनका तत्काल त्याग कर दो। अगर परिवार के लिए हितकारी संकल्प आ रहा है, समाज के लिए हितकारी संकल्प उठ रहा है, तो उसका समर्थन करो और प्राप्त सामर्थ्य लगाकर उसे पूरा करके फ्री (*Free*) हो जाओ।

बड़ी सच्ची बात है कि अगर पर-हित की भावना का संकल्प उठा और उसको पूरा करने में आपने अपनी पूरी शक्ति लगा दी, तो आपका प्रयास सफल हो चाहे विफल। यह बिल्कुल जानी हुई बात है कि आप संकल्परहित हो जायेंगे। करके देखिए। प्रयोग करने की बात मैं कह रही हूँ। अगर ऐसा न निकले, तो मत मानियेगा। लेकिन यह अनुभवीजनों का अनुभवसिद्ध सत्य है कि ऐसा ही निकलेगा।

••••••

प्रवचन 3

उपस्थित महानुभाव, सत्संग-प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

हम सब लोग मनुष्य हैं। शरीरधारी होकर संसार में रह रहे हैं। संसार के प्रभाव से प्रभावित हो रहे हैं। सर्दी-गर्मी का प्रभाव हो रहा है, अनुकूलता-प्रतिकूलता का प्रभाव हो रहा है और इस तरह हम सभी भाई-बहिन संसार के प्रभाव से प्रभावित हो रहे हैं। अब विचार यह करना है कि जीवन की माँग क्या है? यह बनने-बिगड़ने वाला संसार जो है, जन्मने और मरने वाला शरीर जो है, यह तो नित्य है नहीं। यह निरन्तर परिवर्तनशील है। तो, इसका प्रभाव मुझ पर से उतर जाता और जो नित्य तत्त्व है, जो आनन्दमय है, जो प्रेममय है, जो सदा-सदा से सर्वत्र सदैव सभी में विद्यमान है, उसका प्रभाव हमको प्रभावित कर देता, तो हम सभी अपने को आनन्दस्वरूप में पाते, प्रेम-रस से छके हुए पाते। जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त अपने को पाते, तो बहुत अच्छा होता।

एक प्रभाव को हम हटा देना चाहते हैं। जो निरन्तर परिवर्तनशील दशाएँ बीत रही हैं इनको, इनके प्रभाव को, हम अपने पर से हटा देना चाहते हैं। तो जो बनने-बिगड़ने वाला है, उसके प्रभाव से हम मुक्त हो जायें और जो सदा-सदा के लिए रहने वाला है, सदा ही विद्यमान है, उसकी विद्यमानता से हम स्वयं आनन्दित हो जायें यही मानव-जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रोग्राम है, जिसको कि इसी वर्तमान में हम लोगों को पूरा करना है। इसके लिए उपाय क्या करें? तो आज एक दूसरे ढंग से उपाय पर विचार करिए।

कल की बैठक में हम लोगों ने इस विषय पर विचार किया कि जिसको शान्ति चाहिए, जिसको अमर जीवन चाहिए, जिसको परम प्रेम से भरा हुआ जीवन चाहिए, उसको अपना व्यक्तिगत संकल्प नहीं रखना चाहिए। तो संकल्प-रहित जीवन में शान्ति आती है। शान्ति ही वह भूमि

है जिसमें हम अपने को संसार के लगाव से हटा लेते हैं। उसके आगे वह जीवन है जिसमें आनन्दस्वरूप की, प्रेम स्वरूप की अभिव्यक्ति हो जाती है। कल इस विषय पर थोड़ी सी चर्चा हुई थी।

अब आज इस ढंग से विचार करें कि आपको स्वयं अपने द्वारा इस बात का पता चल जायेगा कि अभी हम सभी शरीर को लेकर के बैठे हैं बातचीत करने के लिए। तो बातचीत हो रही है—सत्य की चर्चा हो रही है, अविनाशी जीवन की, लेकिन किसी की सहायता से चर्चा हो रही है? नाशवान शरीर की सहायता से। ठीक है। यह स्वर-यन्त्र जो काम कर रहा है यह यन्त्र नाशवान है कि अविनाशी है? नाशवान है। आप बैठे हैं सुनने के लिए। सुन रहे हैं अविनाशी जीवन की चर्चा, सहायता ले रहे हैं नाशवान ध्वनि-यन्त्रों की। नाशवान की सहायता से हम लोग अविनाशी की चर्चा कर रहे हैं। तो चर्चा में रहस्य क्या है? इस चर्चा में रहस्य यह है कि भाई! जब तक तुम स्वर-यन्त्र को अपने लिए आवश्यक मानोगे, जब तक तुम नाशवान को अपने लिए आवश्यक मानोगे और उस नाशवान को पकड़ के रखोगे, तब तक तुम्हारे ही भीतर में जो अविनाशी तत्त्व विद्यमान है, उसकी विद्यमानता का तुम्हें बोध नहीं होगा।

सत्संग का अर्थ क्या निकला? कि यह बोलना और सुनना जो है यह तैयारी हो रही है। किस बात की? कि न बोलने और न सुनने के जीवन में शान्त होने की। तो महाराज जी कहते हैं कि भाई, प्राप्त वही होता है जो नित्य प्राप्त है और त्याग उसी का होता है जो सदा से छूटा हुआ है। बिल्कुल सच्ची बात है। जो सदा से छूटा हुआ है उसी के बारे में अपने को समझना है कि हमने इसको छोड़ दिया और जो नित्य-प्राप्त है, अपने में विद्यमान है, उसी का अनुभव कर लेना है कि हाँ, यह ठीक है विद्यमान है। तो खोज नहीं करनी है उसकी प्राप्ति के लिए, कुछ नहीं करना है। उसको बनाना नहीं है। उसको उपजाना नहीं है। वह तो सदा से आप

में विद्यमान ही है। तो अब क्या होता है कि आँखें बन्द करके बैठी। सहज है आँखों को बन्द करना, तो हम लोग बन्द कर लेते हैं। आँखें बन्द करके बैठी तो बन्द आँखों से बाहर का स्थूल दृश्य तो नहीं दिखाई देता, लेकिन कितने जन्मों से हमने बाहर के दृश्यों को देख-देख करके उनका चित्र जो मानस-पटल पर अंकित कर लिया है वे चित्र बाहर से आँखें बन्द कर लेने पर मन के स्तर पर दिखाई देते रहते हैं। व्यक्ति परेशान हो जाता है। क्या बताएँ—संसार का चिन्तन छूटता ही नहीं है, मन शान्त होता ही नहीं है। निर्विकल्पता आती ही नहीं है। भगवान् का ध्यान बनता ही नहीं है। निश्चिन्तता, निर्विकारिता आती ही नहीं है।

इस तरह की तकलीफ साधकों को होती रहती है और एक बनी-बनाई परिपाटी के अनुसार दुनिया में रहते हुए सब काम करते हुए, असत्य के संग का सुख लेने की इच्छा रखते हुए हम सब लोग समाधि का आनन्द लेने की चेष्टा करते रहते हैं। हारते रहते हैं, असफल होते रहते हैं, दुखड़ा रोते रहते हैं। यह होता रहता है। तो अब क्या करें? तो एक काम करें।

बहुत ही वैज्ञानिक कदम है। साधक-समाज के लिए बहुत उपयोगी है। वह क्या है? कि जिस विधि से तुम्हें सफलता नहीं मिल रही है, उस विधि को छोड़ दो। यह वैज्ञानिक सत्य है मानव-जीवन का कि जिसको आप पसन्द करते हैं उसमें आपका मन लग जाता है। जिसको पसन्द नहीं करते हैं, उससे मन हट जाता है। तो मन का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। मन एक समष्टि शक्ति का अंश है और चूँकि हम लोग शरीरधारी होकर दुनियाँ में रहते हैं, तो शरीर के साथ बाह्य वातावरण का अभियोजन (*Adjustment*) चाहिये। मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ—ये सब साथी हम लोगों को मिले हैं शरीरों को लेकर के संसार में निर्वाह करने के लिए। इनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। ये अपने आप में दोषी नहीं होते।

इनका अपना अलग कुछ नहीं होता। ये समष्टि शक्तियाँ हैं। हमको मिली है काम करने के लिए। तो अब क्या करना चाहिये। तो इस वैज्ञानिक सत्य को, मनोवैज्ञानिक सत्य को—अपने सामने रखो कि भाई जिसको हम पसन्द करेंगे उसमें हमारा मन लगेगा। तो हम लोग चाहते क्या हैं? चाहते हैं कि संसार में से अपने मन को हटा दें।

किसलिए चाहते हैं? इसलिए कि मन बेचारा तो एक ही है। अगर हम उसको संसार में फँसा कर रखेंगे तो परमात्मा में लगेगा नहीं। तो साधक-जन जो होते हैं, वे क्या चाहते हैं, कि मन को संसार में से हटा दें। उपाय क्या होगा? कि मन को कुछ मत कहो। उस बिचारे को छोड़ दो जैसा है। अपने भीतर इस सत्य को स्वीकार करो कि जहाँ मेरी पसन्दगी होती है वहाँ मन लगता है। तो संसार से अगर मन को हटाना है तो अपने भीतर से संसार की पसन्दगी निकाल देनी चाहिये।

आँख बन्द करके बैठना चाहिये, कि कान बन्द करके बैठना चाहिए, कि श्वांस रोक करके बैठना चाहिए कि इस भवन में बैठना चाहिए, कि जंगल में पेड़ के नीचे बैठना चाहिये—इससे कोई अन्तर नहीं आता है। शरीर सदैव संसार में रहता है। और दोष न शरीर का है, न संसार का और न ही परमात्मा का है। अगर मेरे भीतर हलचल है, अशान्ति है, पराधीनता की पीड़ा है, मृत्यु का भय है, तो इसमें केवल मेरा दोष है, न संसार का है, न संसार के मालिक का है। इस बात को मानिएगा कि नहीं? जी? संसार का दोष इसलिए नहीं है कि संसार पर-प्रकाश्य है। वह आप जैसे चेतन पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकता। आप स्वीकार करते हैं तो प्रभावित करता है। आप अस्वीकार कर देते हैं तो निरस्त हो जाता हैं। एक आनन्द की बात याद आ गई।

स्वामी जी महाराज एक बार अपने मित्र के साथ घूमने गए बाग-बगीचे में—नगर के बाहर। जल की जरूरत पड़ी तो साथी से कहा

कि देखो भई, कहीं आसपास में जल है? तो एक बगीचे में जल का नल दिखाई दिया तो उन्होंने कहा—हाँ महाराज है। स्वामी जी ने कहा—ले चलो मुझको! तो गये। वहाँ बैठकर नल को खोलकर महाराज जी ने हाथ-पाँव धोना, कुल्ला करना, मुँह धोना शुरु किया। बगीचे का मालिक जो था वह बिगड़ता हुआ आया, खूब गाली देने लगा—कौन है? कैसे घुस आया बिना पूछे? तो बेचारे सज्जन दौड़े-दौड़े आये स्वामी जी के पास, कहने लगे, महाराज जी! महाराज जी!! माली तो बहुत गाली दे रहा है। तो महाराज जी ने हँस कर कहा कि भैया, जाओ, माली से कहो कि हम गाली नहीं लेते हैं। वह दे ही तो रहा है। देना उसके अधिकार में है तो वह दे रहा है, लेकिन तुमको तकलीफ तब होगी जब लोगे। तो जाओ भैया, उसको कह दो कि गाली नहीं लेते हैं। हम नहीं लेते, बात खत्म हो गई। अब तुम देते रहो। हम पर प्रभाव तो तब पड़ेगा जब लें उसको। तो मैं नहीं लेता हूँ। बात खत्म हो गई।

तो इस तरह से आप देखेंगे कि यह जड़ जगत् जो है यह आपको बाँध नहीं सकता, आपको प्रभावित नहीं कर सकता, आपको पराधीन नहीं बना सकता, आपको दुखी नहीं बना सकता। यह तो कुछ नहीं कर सकता है। आप मनुष्य हैं, सचेत हैं, आप अपनी तरफ से सोच करके देखिए, तो आपको पता चलेगा कि मेरे दुःख का कारण कोई और नहीं हो सकता है। मैं ही हूँ। और उपाय क्या है? कि जहाँ से मन को हटाना है उसे पसन्द करना बन्द कर दो। तो अब एकदम हट जायेगा मन वहाँ से और जिसमें तुम अपने को लगाना चाहते हो, उसको पसन्द करो। जो लोग उस अविनाशी जीवन के आनन्द को जानने के लिए परिवर्तनशील नाशवान संसार को अपने लिए नापसन्द कर देते हैं, वे पार पा जाते हैं। तो जिसमें से मन को हटाना है उसको नापसन्द कर देना—यह मूल उपाय है। इससे न संसार की कोई क्षति होगी, न आपको कुछ होगा। उसकी नापसन्द करने की बात है।

अब दूसरा प्रश्न लीजिये कि हम नापसन्द कैसे कर दें ? हमको तो उसमें बहुत काम करना है और हमारे परिवार में बहुत से सदस्य हैं, उनका पालन करना है और मुझे तो संसार से बहुत कुछ लेना है, तो हम कैसे नापसन्द कर दें ? तो जरा-सी बात है लेकिन बहुत सूक्ष्म है। वह क्या ? कि मैं कह रही हूँ आपको कि जिस संसार से आप अपने मन को हटाना चाहते हैं, उस संसार को अपने लिए नापसन्द कर दो। अपने लिए नापसन्द कर दो। इस वाक्य पर ध्यान देना। तो अपने लिए नापसन्द कर देंगे। बाकी ?

कभी-कभी मैं आनन्द में आती हूँ तो कहती हूँ कि हे भगवान् ! हे मेरे प्यारे ! आपकी प्यारी-प्यारी सृष्टि आबाद रहे। मैं इस सृष्टि में से अपने लिए कोई बात पसन्द नहीं करती हूँ। और बाकी तो मेरे प्यारे की सृष्टि है। जब वे मुझे प्यारे लगते हैं तो उनकी सृष्टि क्यों नहीं प्यारी लगेगी ? उनका प्रेम मुझको अभीष्ट है, तो सृष्टि की सेवा क्यों नहीं अच्छी लगेगी ? तो बाल-बच्चों को ठीक तरह से शिक्षा देना है, पोषण देना है, सम्हाल करके माँ-बाप बनने के राग से मुक्त होना है, तो बाल-बच्चों की सेवा के लिए क्यों नहीं संसार में प्रवृत्त होंगे ? वृद्ध माता-पिता की सेवा के लिए क्यों नहीं संसार में प्रवृत्ति होगी ? तो जो लोग सेवा के लिए संसार के प्रभाव से मुक्त हो जाते हैं। जो लोग अपने सुख के लिए संसार की ओर देखते हैं वे संसार के बन्धन में फँस जाते हैं। तो उपाय क्या निकाला कि संसार को अपने लिए नापसन्द कर दें। क्यों नापसन्द कर दें ? तो इसलिए नापसन्द कर दें कि जो बनने-बिगड़ने वाला है वह मुझको नहीं चाहिये क्योंकि मुझे अजर-अमर अविनाशी, आनन्दमय, ज्ञानमय, प्रेममय, शान्तिमय जीवन चाहिए। तो जिसको अविनाशी चाहिए उसको नाशवान दृश्यों में से अपनी पसन्दगी हटा लेनी चाहिए। आपकी पसन्दगी उसमें से हट जायेगी, तो उसका प्रभाव आप पर से चला जावेगा।

एक मनुष्य के व्यक्तित्व में थोड़ी शक्ति होती है, थोड़ी सी योग्यता होती है, छोटा-सा काम करने का क्षेत्र होता है। आपने देखा होगा कि जब आप अकेले बैठते हैं तो आपका एक छोटा-सा परिवार एक छोटा-सा कारोबार—दुनियाँ का एक छोटा-सा रूप—आपके चिन्तन में आता है। सारा संसार आपके चिन्तन में नहीं आता है। सारे संसार की याद आपको नहीं आती है। जब कोई भी मौका होता है अकेले होने का तब आपके भीतर चिन्तन का उदय होता है, तो किसका होता है? अगर आप सोचकर देखेंगे तो लगेगा कि जिन व्यक्तियों से कुछ लेना है, उनकी याद आती है। जिन व्यक्तियों को कुछ देना है, उनकी याद आती है। जिन व्यक्तियों से अपनी ममता है उनकी याद आती है, सबकी तो नहीं आती है। तो इसका मतलब यह है कि जहाँ-जहाँ मैंने अपनी ममता की स्टैम्प लगा दी है बस वही सब मेरे भीतर भरा रहता है। तो महाराज जी ने तीन बातें कहीं—

उन्होंने कहा कि देखो, तुम संसार में रहते हो तो जगत् के नाते सभी को अपना मानो। आत्मा के नाते सभी को अपना मानो। परमात्मा के नाते सभी को अपना मानो। अगर ऐसा करोगे तो संसार तुम्हारे भीतर भरेगा नहीं, प्रत्युत् उसका उल्टा होगा। क्या होगा कि अपने लिए मुझको संसार चाहिये नहीं और संसार का दिया हुआ अपने पास जो कुछ है वह सब संसार को वापिस कर दो। तो नया लेना बन्द कर दो और पहले का लिया है वो सब वापिस कर दो, तो संसार तुम्हारे भीतर से निकल जावेगा।

तो हम लोग आँख-कान बन्द करके मन में उठने वाली गति को रोक करके, समाधि का आनन्द लेना पसन्द करते हैं और जो असली उपाय है कि संसार से लेना बन्द कर दो, और देने के लिए जो सामग्री तुम्हारे पास बचीखुची है सब दे डालो तो संसार का चिन्तन तुम्हारे भीतर से निकल जायेगा। असली उपाय तो यह है। तो असली उपाय को पसन्द

न करो, असली उपाय करने के लिए हिम्मत न करो और ज़बरदस्ती मन में उठने वाले चिन्तन को रोकने की चेष्टा करो, तो इससे आज तक न किसी को सफलता मिली है, न मिलेगी। पकड़ में आती है यह बात?

अब देखिये—कितने आश्चर्य की बात है। कभी-कभी तो अपनी गरीबी पर बहुत ही दया आती है मुझे। आदमी कितना गरीब है। देखो। संसार तो हमेशा ही तुम्हारे से छूटा हुआ है। 'मैंपन' जो है हम लोगों का, 'मैं' करके जिसको हम सम्बोधित करते हैं, उसमें यह शरीर भी कभी घुसता नहीं है। शरीर भी हमेशा बाहर ही बाहर है। वह 'मैं' बना है अविनाशी तत्त्वों से, शरीर बना है भौतिक तत्त्वों से। तो उन अविनाशी तत्त्वों से बना हुआ जो अहम् रूपी अणु है, मैंपन है उसमें वह शरीर ही नहीं घुसता है, तो मकान कहाँ तक घुसेगा? सामान कहाँ तक घुसेगा? दुकान कहाँ तक घुसेगी? तो ये सारी चीजें तो बाहर हैं। भीतर नहीं हैं। भीतर क्या है? शरीर की आसक्ति है, धन का लोभ है, पद का लोभ है, सुख की वासना है, दुःख का भय है।

वासना का कभी स्थूल आधार (*Concrete form*) आपने देखा है? ऐसे कि इसमें से कुछ निकाल के रख सकते हैं बाहर, कि यह वासना है? नहीं ना। अच्छा धन को आप निकाल कर रख सकते हैं कि यह हमारी सम्पत्ति है। लेकिन उसका लोभ जो आपको सता रहा है उस लोभ का कोई स्थूल रूप (*Concrete form*) बना सकते हैं? नहीं बना सकते। हमने मान लिया तो वह पैदा हो गया और ज्ञान के प्रकाश में उसको त्याग दिया, तो वह मिट गया। कितनी अस्तित्व-विहीन ये बातें हैं और कितना बेचैन करने वाली हैं कि एक जन्म की तो कौन कहे, न जाने कितने जन्म हमारे बर्बाद होंगे। धन से बर्बाद नहीं होता है कोई व्यक्ति— धन के लोभ से होता है। शरीर से कोई बर्बाद नहीं होता है—शरीर की आसक्ति से बर्बादी होती है। सम्मान मिला है, पद मिला है, अधिकार मिला

है—समाज की सेवा करने के लिए। परिवार का दिया हुआ, समाज का दिया हुआ, राष्ट्र का दिया हुआ, सरकार का दिया हुआ, वह सब कुछ अपने को मिला है पद के रूप में, अधिकार के रूप में, तो सेवा के लिए मिला है। इससे किसी का कोई नुकसान नहीं होता। लेकिन इसका लोभ हम अपने भीतर रख लें, तो जब कभी प्रातः काल, संध्या काल, रात्रि में हम सोचेंगे कि यह तो मेरा अपना फ्री टाइम है, अभी मैं अपनी साधना में रह सकता हूँ तो अभी शान्ति-सम्पादन हो सकता है, अभी समाधि का आनन्द लिया जा सकता है, अभी अपने भीतर जो अविनाशी तत्त्व विद्यमान है उसकी अभिव्यक्ति का आनन्द लिया जा सकता है—ऐसा सोचकर के अगर थोड़ी देर के लिए चुप होना चाहेंगे, अकेले होना चाहेंगे, तो नहीं हो पायेंगे।

क्या होगा? कि दुकान में तो ताला बन्द करके आये, एकाउन्ट तो सब बैंक में है, परिवार के सब लोगों को कह दिया कि यह तो मेरे एकान्त का समय है, मेरे पास कोई मत आना। तो सब लोग हट गये। आपको छोड़ दिया कि आपका एकान्त का समय है। तो संसार को तो छोड़ दिया? लेकिन दुकान कहाँ है? मकान कहाँ है? एकाउन्ट कहाँ है? परिवार कहाँ है? तो अकेले आप हो नहीं पाए। क्या हो गया? वस्तुएँ सब बाहर-बाहर हैं और वस्तुओं के लगाव से अपने में चिन्तन पैदा हुआ, उसने आपको परेशान कर दिया। ऐसा होता है। तो संसार का नाश करना है? कि वस्तुओं को समुद्र में डालना है? कि बाल-बच्चों का पालन बन्द करना है? कि कारोबार बन्द करना है, कि अपने भीतर का दोष मिटाना है? कैसे होगा भाई? घर छोड़ करके वन में जाओगे, तो शरीर को लेकर के ही जाओगे। और उसी व्यक्ति में संसार का लोभ, मोह, भय, राग द्वेष भरा हुआ है, तो शरीर को लेकर बैठोगे वन में और सारा संसार बैठा रहेगा तुम्हारे मन में। तो क्या करोगे फिर? कोई फायदा नहीं होगा। इसलिए क्या करना चाहिए?

समाज में रहने का अवसर मिला है, तो यह प्रकृति के विधान से मिला है और इसकी विशेष उपयोगिता है। माता-पिता बनने का अवसर मिला है, तो प्रकृति के विधान से मिला है और इसकी विशेष उपयोगिता है। क्या उपयोगिता है? कि जब तक समाज में रहने को मिला है, उसी अवसर के भीतर समाज से जितना लिया है हमने वह सब सद्भावनापूर्वक सधन्यवाद वापिस करने का अवसर मिला है। माता-पिता बनने का अवसर जो मिला है वह इसलिए मिला कि अब तक हम बाल-बच्चे पैदा करने के राग से अपने को ऊपर नहीं उठा सके, तो उदार विधान ने, मंगलकारी विधान ने मुझको माँ-बाप बनने का एक अवसर दे दिया। तो उसकी उपयोगिता क्या है कि इस बार इस वर्तमान में, इस जीवन में माता-पिता बनने का अवसर जो मिला है तो बच्चों के प्रति इतनी सेवा, इतनी हितकारिता, अपनी सब सुख-सुविधा छोड़ करके उनके विकसित जीवन के लिए पालन-पोषण में इतनी सेवा कर दो कि सदा-सदा के लिए माँ-बाप बनने का राग खत्म हो जाय। और नहीं तो महाराज जी कहते कि क्या होता है कि बाल-बच्चों का राग भीतर रह गया और प्रतिकूलता से घबरा करके उनको छोड़ कर भाग गए तो वही राग आगे चल करके चेले-चेलियों के साथ लग जाता है। महल छोड़ करके भाग गए तो वही आसक्ति जाकर कुटिया में, आश्रम में चिपक जाती है। तो बाहर से देखने में परिस्थिति परिवर्तित हो गई लेकिन अन्दर से दशा में परिवर्तन नहीं हुआ। इसलिए यह मत सोचो कि जब मुझको नगर छोड़ने का मौका आवेगा तब मैं साधक बनूँगा, कि रिटायरमेंट के बाद जीवन की चर्चा करने का मौका आवेगा, तब करूँगा। ऐसा मत सोचो। तैयारी की घड़ी आज है।

आज से ही तैयारी करना आरम्भ कर दें। 'क्षणदेव चिन्तनिका' की एक बात मुझे याद आ गई। बड़ी बढ़िया बात लिखी है। क्षणदेव महाराज ने यह लिखा है कि 'छुड़ाने की बातें सब मेरे भीतर ही थीं, उनको मैंने

छोड़ दिया। और सब छोड़ने की कल्पना भी छूट गई, अर्थात् छोड़ने की बातें तो सब भीतर ही होती हैं। उनको छोड़ दें तो फिर छोड़ने की कल्पना भी छूट जाती है।

यह तो हम लोगों के लिए, सबके लिए लागू होने वाली है कि भाई, त्याग की बात तो भीतर ही होती है और सब छोड़ने के बाद फिर त्याग का अभिमान भी छूट जाता है, रहता नहीं है। इसकी जरूरत नहीं रह जाती है। इसलिए आज अपने सभी आत्मीय सत्संगी प्रेमी भाई-बहिनों की सेवा में निवेदन कर रही हूँ कि उस जीवन की तैयारी के लिए आज ही शुभ घड़ी है। यह वर्तमान ही हमारे हाथ में है, इसलिए आज से आरम्भ कर दें।

■■■■■■

सन्त-वाणी

जिज्ञासा की जागृति समस्त स्वीकृतियों का अन्त कर सभी वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों से विमुख कर देती है और फिर स्वतः 'स्व' में ही विचार का उदय होता है, जो जिज्ञासा पूर्ति में समर्थ है।

❖❖❖

स्थूल दृश्य से असंगता मानव बुद्धि-दृष्टि से भी प्राप्त कर लेता है। किन्तु सूक्ष्म तथा कारण दृश्य से असंगता तभी होती है, जब बुद्धि-दृष्टि सम हो जाए और निर्विकल्प-स्थिति में रमण न हो।

प्रवचन 4

सत्संग-प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

जीवन के सत्य पर विचार करने से ऐसा स्पष्ट होता है कि जो वास्तविक जीवन है उसमें अभाव नहीं है, नीरसता नहीं है, दु:ख नहीं है। हमारी जो अपनी दशा है वह इसके विपरीत है। अपने में नीरसता भी हम पाते हैं, दु:खी भी होते हैं, अभाव भी सताता है।

जीवन की वैज्ञानिकता, दार्शनिकता और आस्तिकता, तीनों ही दृष्टिकोणों से विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि जो दिव्य चिन्मय जीवन है, वह सब समय हमारे भीतर-बाहर भरपूर है और हमारा साथ उसने कभी छोड़ा नहीं। ऐसा किस आधार पर हम मानते हैं? ऐसा इस आधार पर मानते हैं कि हम लोग इसी वर्तमान क्षण में अपनी सत्ता का अनुभव करते हैं जैसे आप दरवाजा खटखटायें और मैं पूँछूं, कौन है? तो आप कहेंगे कि 'मैं हूँ'। मैं हूँ इस बात की पक्की जानकारी अपने लोगों को रहती है, कि नहीं? रहती है। मैं-पन का जिसको आभास हो रहा है, अर्थात् जो अपने अस्तित्व को अपने द्वारा अनुभव कर रहा है, वही व्यक्ति उस सत्ता को कैसे इन्कार करेगा, जिसमें से यह मैं-पन बना है? तो मेरी सत्ता अगर है, मैं अपने अस्तित्व का अनुभव करती हूँ, तो उस परम सत्ता को भी स्वीकार करना ही पड़ेगा, जिसमें से उस 'मैं' की रचना हुई है। इस तरह से उस परम सत्ता को विचारकों ने भी माना और विश्वासियों ने भी माना। और दोनों ही दृष्टियों से मैं निवेदन कर रही हूँ कि वह परम वह मौलिक अस्तित्व, वह स्वयं प्रकाश ज्ञानस्वरूप, प्रेमस्वरूप सब समय सब जगह पर समान रूप में विद्यमान है। तो सभी भाई-बहनों को उसकी विद्यमानता का पता चलना चाहिये, कि नहीं चलना चाहिए? जी? चाहिए।

केवल ईश्वर-विश्वास की दृष्टि से थोड़ी देर के लिए अपनी दशा पर विचार करें, तो पायेंगे कि प्राय: हम लोग ईश्वर को अन्तर्यामी घट-घट

वासी कहते ही हैं। तो जो घट-घट वासी है, जो अन्तर्यामी है, जो सब समय उपस्थित है, उसकी उपस्थिति का अगर अपने को आभास होता, तो हम किसी भी परिस्थिति से भयभीत अथवा चिन्तित नहीं होते। यदि पतित पावन परमात्मा की विद्यमानता को हम सब लोग मानते, तो अपने भीतर अपराधी-भाव से पीड़ित नहीं होते। अगर दीनबन्धु, दुःखों के नाश करने वाले, दुःखहारी हरि की उपस्थिति को हम लोग मानते, तो किसी भी दुःख की घड़ी में अधीर नहीं होते। अतः पहली बात तो हम लोग यह सीखें कि ईश्वर को मानने वाले हम हैं, कि नहीं हैं। तो यही कहना होगा कि हम लोग ईश्वर को मानते हैं और उनको सर्वसमर्थ मानते हैं।

फिर भी अपने असमर्थता-काल में घबराते क्यों हैं? सामर्थ्यवान अपना, बनाने वाला वह मेरा निर्माता भी है, जन्मदाता, जीवनदाता भी है। उसको हम अपना रक्षक भी मानते हैं। उसको अपना प्रेमी और हितकारी भी मानते हैं और उसकी उपस्थिति भी सब समय, सभी जगह समान रूप से है। इतना मानने का फल अपने लोगों को होना चाहिए था। क्या होना चाहिए था? कि किसी काल में हम भयभीत नहीं होते, किसी काल में हम चिन्तित नहीं होते, किसी काल में अपने को उनसे बिछुड़ा हुआ अनुभव नहीं करते। कहीं-न-कहीं कुछ तो गलती है। दुःखहारी हरि भी मौजूद हैं, और हम उनको मानने वाले भी मौजूद हैं, फिर भी दुःख का भार अपने सिर पर ले रहे हैं।

सूरदास जी ने अपने पदों में गा करके सुनाया हम लोगों को 'सुने री मैंने निर्बल के बल राम'। तो निर्बल के बल हैं वे। अधमों का उद्धार करने वाले हैं, पतितों को पवित्र करने वाले हैं, भक्तों को आनन्द देने वाले हैं। ज्ञानियों से ज्ञानस्वरूप होकर मिलते हैं। योगियों से परम तत्त्व होकर मिलते हैं। प्रेमियों से परम प्रेमास्पद होकर मिलते हैं। इन बातों को हम लोगों ने सुन भी रखा है और मानते भी हैं। तो मानने का फल यह होना

चाहिए था कि हमारे भीतर से भय और चिन्ता निकल जाती। अब अपना-अपना जीवन, वर्तमान क्षण में अपने दिल को टटोल करके देखो कि हम सब ईश्वर के मानने वाले भय और चिन्ता से मुक्त हो गए कि अभी भी भयभीत और चिन्तित हैं? अगर हैं तो इसका अर्थ यह है कि हम ईश्वरवादी नहीं हैं। ऐसा कहना भी अपने को अच्छा नहीं लगेगा कि हम ईश्वरवादी नहीं हैं, क्योंकि हम सब लोग किसी-न-किसी रूप में उनका नाम लेते ही रहते हैं। तो यह एक अपने जीवन की दुविधा, मनुष्य के जीवन का यह एक द्वन्द्व है, जिसको सामने रखकर मैं सत्संग प्रेमी भाई-बहनों की सेवा में यह निवेदन करना चाहती हूँ कि हमारा-आपका आज का पुरुषार्थ यह है कि यह दुविधा मिट जाये। अब इसको मिटाने के लिए हम क्या करें?

स्वामी जी महाराज की सलाह मानें। उन्होंने अपनी दुविधा को मिटा लिया था। बड़ी असमर्थता की घड़ी में ईश्वर की शरणागति को स्वीकार किया था। छोटी उम्र थी, दस-ग्यारह वर्ष की और दोनों आँखें चली गई। तो पढ़ना-लिखना नहीं हो सकता था, धन-उपार्जन नहीं हो सकता था, सुखपूर्वक दुनियाँ में रहना नहीं हो सकता था। ऐसी दुःख की घड़ी में किसी संत ने उनको सलाह दी कि कोई चिन्ता की बात नहीं है, आँखें चली गई तो क्या हुआ? तुम सर्व समर्थ प्रभु की शरणागति स्वीकार करो। और उन्होंने स्वीकार कर ली और प्रभु की शरणागति स्वीकार करने के बाद कभी भी उनको किसी प्रकार से असमर्थता, दुःख, चिंता और भय का भार सहन करना नहीं पड़ा। इसी आधार पर मैं ईश्वर-विश्वास के पंथियों को उनके वचन सुना रही हूँ।

हमसे गलती क्या हुई? हमसे गलती यह हुई कि हमने ईश्वर की सत्ता को तो माना और उनको अपने जीवन का आधार बनाना भी पसन्द किया। लेकिन जहाँ-जहाँ हमें जरूरत पड़ी, वहाँ-वहाँ तो हमने ईश्वर को

अपने जीवन का आधार माना और जहाँ-जहाँ उन्हीं का दिया हुआ बल हमारे काम आया, तो वहाँ-वहाँ हम अपने अहं का पोषण करते रहे। यह भूल हो गई।

दुनियाँ में काम करने चले। अगर बुद्धि काम कर गई तो वाह! मेरी बुद्धि बहुत अच्छी है। देखो, मैंने कैसे यह काम निकाल लिया। अगर शरीर का बल काम आ गया तो देह का अभिमान थोड़ा पुष्ट हो गया। बड़ा बलवान है शरीर मेरा। काम मैंने कर लिया तो बुद्धि काम आ गई, तो मेरा बल काम आ गया, तो चालाकी-चतुराई काम आ गई, तो मेरे नाते-रिश्ते, कुटुम्बी काम आ गए, तो यह सब मेरा। यह बड़ी भारी भूल हमसे होती है कि जहाँ हम असमर्थता अनुभव करते हैं, वहाँ कहते हैं हे प्रभु! मैं सब तरह से तुम्हारी शरण में हूँ। और जब वह काम अपना निकल गया, तो भीतर से ऐसी प्रतिक्रिया होती है—मैंने अनुभव करके देखा है। अपने सम्बन्ध में तो पक्की जानकारी है मुझे और आप सभी भाई-बहन चाहें तो अपनी जानकारी का लाभ ले सकते हैं।

मैं दुनियाँ के काम की बात नहीं कह रही हूँ कि धन घटा था और धन की चिन्ता थी और मिट गई कि संतान के न होने का दुःख था और संतान मिल गई, कि कोई मान में बाधा पड़ रही थी, मान, बढ़ाई प्रशंसा, सम्मान घट रहा था और ईश्वर को पुकारा तो इज्जत रह गई और सम्मान की रक्षा हो गई। यह मैं नहीं कहती हूँ। यह तो बहुत छोटी बात है। मैं साधन सम्बन्धी बात कहती हूँ कि जहाँ जहाँ पर मन और चित्त की विकृति से मैं स्वयं बहुत दुःखी होती तो स्वामी जी महाराज की सलाह लेती कि क्या करूँ?

महाराज जी कहते हैं कि देखो देवकी जी, गाय का एक नया बच्चा जो पैदा होता है, तुमने देखा होगा? हाँ, महाराज मैंने देखा है—बचपन में घर में गाय रहती थी, देखा है मैंने। तो उन्होंने कहा कि गाय का बच्चा

जब पैदा होता है तो कितना असमर्थ और कितना गंदा होता है। गंदी धातुओं से लिपटा होता है, लेकिन वह करुणामयी गऊमाता जीभ से चाट-चाट कर उसको साफ कर देती है। देखा है तुमने? हाँ, स्वामी जी महाराज मैंने देखा है। तो लाली, गाय के तुरन्त जन्मे हुए बच्चे की तरह कितनी भी असमर्थ और गंदी क्यों न हो, तुम अपनी सारी गन्दगी सहित उस जगज्जननी, उस जगत्पिता की शरण में अपने को छोड़ दो। तुम छोड़ दो अपने को। तुम चित्त की विकृतियों से संघर्ष मत करो। तुम तो प्रभु की शरण में अपने को डाल करके छोड़ दो। तो वे करुणा सागर, वे जगत्-जननी करुणामयी माँ तुम्हें अपनी कृपा से अपनी अहैतुकी कृपा से साफ सुथरी बना देंगे। अपनी भक्ति के लायक बना लेगी। अपने प्रेम का पात्र बना लेंगी। तुम चिन्ता मत करो।

सलाह मिल गई। भाई, तो एक कहावत ऐसे कहते हैं कि "मरता क्या न करता।" तो ऐसी दशा होती कि अपने भीतर की परेशानियों से परेशान। क्रोध नहीं मिट रहा है, लोभ नहीं मिट रहा है, सुख की दासता भी जीवन में से नहीं निकलती। कुटुम्बियों का चिंतन भी नहीं निकलता है, तो साधक के लिए यह महारोग है। यह सब निकले नहीं तो आगे बढ़े कैसे आदमी? ऐसे रोग से पीड़ित होकर भगवत्-भक्त, संत की सलाह लेकर थोड़ी-थोड़ी देर के लिए मैं उन महामहिम की शरण में, उन करुणासागर की शरण में अपने को डाल देती और अपनी हार स्वीकार करके डाल देती, बहुत ईमानदारी से। अपनी ईमानदारी के गीत गाऊँ मैं आपके सामने।

ईमानदारी किस बात में? कि मैं उनसे कहती, कि मैं क्या बताऊँ? आपने बहुत साफ सुथरा बढ़िया-बढ़िया सामान मुझको दिया था। इस दुनियाँ में आ करके सुख के लालच में पड़ करके सुख-भोग की तृष्णाओं से प्रेरित होकर के मन को, चित्त को सबको मैंने गंदा कर लिया है। अब

हे कृपालु। हे करुणासागर। मैं बहुत ही सच्चाई के साथ कोशिश करके हार गई हूँ, अब मेरे द्वारा इस जीवन की अशुद्धि का नाश नहीं हो रहा है। आपके परम मित्र मेरे सदगुरु ने मुझको सलाह दी है कि मैं आपसे प्रार्थना करूँ, अपने को छोड़ दूँ। अब हे कृपालु, आप अपनी कृपा से सम्हालें। प्रयोग करती हुए मैं आई थी न विश्वविद्यालय की प्रयोगशाला से। तो प्रयोग का ही दृष्टिकोण रहता था। बड़े विश्वास के साथ और बड़ी श्रद्धा के साथ नहीं। एक हारा हुआ व्यक्ति, जिसका अपना कोई वश नहीं चलता है क्या करेगा? तो झख मारकर यह सोचकर कि भाई अपने से कोई काम बना ही नहीं तो संत जैसा कहते हैं वैसा करके देखो, क्या होता है। तो जब-जब मेरे दिल का भार उतर जाता, जब-जब वर्तमान क्षण की अशुद्धियों के हट जाने से बड़ा आराम मिलता भीतर से तो मैं अपनी नादानी क्या बताऊँ आपको, चित्त की शान्ति, मन की शान्ति, भार का हल्कापन और शुद्धि का आराम जब मुझे मिलने लग जाता तो मैं उन कृपालु को भूल जाती और यह बात मेरे सामने आ जाती कि मैं बहुत बढ़िया साधक हूँ। मुझको शान्ति मिल गई।

एक बार नहीं, अनेक बार ऐसा हुआ और बिल्कुल सही-सही चित्र आपके सामने रखकर यह सत्य निवेदन कर रही हूँ कि जब-जब साधक के भीतर अपनी साधना के फल का आभास आ जाता है, वह सत्य से दूर हो जाता है। समझ में आया? यह आभास आ गया कि मैं बहुत बढ़िया साधक हूँ, स्वामी जी महाराज ने जो कहा था सो मैंने किया। निर्बल के बल राम की दुहाई कहाँ गई? अपने बल का अभिमान आ गया। अपने अच्छेपन का एक आभास आ गया। तो ज्ञानपंथ की साधना की दृष्टि से और प्रेमपंथ की साधना की दृष्टि से यह बिल्कुल सच्ची बात है कि इस लिमिटेड पर्सनेल्टी *(Limited Personality)* सीमित अहंभाव का पोषण ही तो मुझको उस सत्य से वंचित करके रखता है। संत कबीर अपने ज्ञान

की मस्ती में कहते हैं—'पानी बिच मीन प्यासी, मोहि सुन-सुन आवै हाँसी।' संत कबीर को हँसी आती है किस बात के लिए?

आनन्दस्वरूप में रहने वाला मनुष्य, आनन्दस्वरूप की धातु से रचा गया मनुष्य और रोनी-रोनी सूरत बना के गमगीन चेहरा लेके दुनियाँ में घूमता है-मैं बड़ा दुःखी हूँ! मैं बड़ा दुःखी हूँ!! अरे आनन्द-स्वरूप में तुम वास करते हो। आनन्द स्वरूप तुम्हारे भीतर-बाहर भरपूर है। आनन्दस्वरूप की धातु से बनाए गए हो और कहते हो मैं बड़ा दुःखी हूँ। तो ऐसा हम लोगों को क्यों लगता है? ऐसा इसलिए लगता है कि उस सीमित व्यक्तित्व के अहं को हम मिटने नहीं देना चाहते। पहले हीरा-मोती से शृंगार करते थे, अब शान्ति से शृंगार करने लग गए। पहले अच्छे-अच्छे कपड़े-गहने पहिन कर दूसरों की अपेक्षा अपने को कुछ विशेष समझते थे, अब साधना के फल का शृंगार हो गया—हम बड़े शान्त रहते हैं, हमारा चिन्तन शुद्ध हो गयाा, हमारा मन बड़ा शान्त हो गया। तो फिर हम सबके निकट पहुँचे कि दूर हो गए? दूर हो गये।

अनुभवी संत की वाणी में मैंने यह सुना कि अपनी दुर्बलताओं से व्यक्ति, सर्व समर्थ की महिमा का आधार लेने वाला दुर्बल से दुर्बल, पतित-से-पतित साधक आगे निकल जाता है और गुणों का अभिमान रखने वाला बड़े-से-बड़ा पंडित पीछे रह जाता है। यह मैंने सुना है।

तो हम ईश्वर विश्वासियों को और ज्ञानपंथी साधकों को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिये कि मुझ में ही विद्यमान वह अनन्त जीवन, अनन्त आनन्द का सागर लहरा रहा है, अनन्त प्रेम का रस लहरा रहा है—यही उसका स्वरूप है। उसकी विद्यमानता का अपने को पता क्यों नहीं चलता?

तो एक-एक छोटी-छोटी गलती का विवेचन मैं कहाँ तक करूँगी? एक-एक गलती, एक-एक भूल, एक-एक दोष की लिस्ट बनाने लग जाएँ

हम लोग, तो उसका कहीं अन्त नहीं मिलेगा। लेकिन मूल भूल क्या है? तो मूल भूल के रूप में यह अहं का अभिमान है। यह मैं हूँ, यह मेरी बुद्धि, यह मेरा बल, यह मेरा जप, यह मेरा तप। तो इसके अभिमान से हम उस सत्य से दूर हो जाते हैं। इस सीमित अहं के अभिमान का घेरा हम लोगों को सत्य से बिछुड़ा देता है। यह सीमित अहं न रहे, यह गल जाय तो हमारे और उससे बीच में कोई अन्तर ही नहीं रहता है।

इस दृष्टि से ईश्वर-विश्वासी साधकों के लिए स्वामी जी महाराज ने दो-चार सलाह दी हैं। अगर आप ईश्वर-विश्वास की साधना को पसन्द करें, तो अपने लिए ग्रहण करने की चेष्टा करें। तो वे पहली बात क्या कहते हैं। भाई! अगर ईश्वर-विश्वास का सहारा ले कर तुम जीवन को पूर्ण बनाना पसन्द करते हो तो पहली बात स्वीकार करो—परमात्मा है। इसमें कोई असमर्थता है? नहीं। परमात्मा है और उसी से, केवल उसी से मेरा नित्य सम्बन्ध हैं और सब कुछ उसी का है। अब देखिये, कितना रहस्य है इसमें। केवल उसी से मेरा नित्य सम्बन्ध है तो बाकी सब सम्बन्ध उस सम्बन्ध में लय हो गए। सब कुछ परमात्मा का है, तो जो सब कुछ परमात्मा का मान लेगा वह अपने पर, अथवा अपने पास जो शरीर है उस पर अथवा अपने पास जो मकान है उस पर अपना अधिकार मानेगा? नहीं मानेगा। तो हम लोग जगत्पति अपने को कहते हैं कि परमात्मा को कहते हैं? परमात्मा को कहते हैं न? जब जगत्पति परमात्मा हो गया तो ईंट-पत्थर जोड़ करके जो एक मकान बनवाया उसके पति आप कैसे हो गए? कितनी सच्ची बात है? सोचो। इसलिए घण्टों का किया हुआ, बड़े-बड़े अभ्यास से किया हुआ ध्यान सफल नहीं होता है। बनता और बिगड़ता है। लगता है और टूटता है। महाराज जी ने क्या कहा कि चित्त जब तक लगे और हटे ऐसी दशा दिखाई दे तो समझो कि भगवान में लगा ही नहीं। क्यों? क्योंकि वह तो इतना मधुर आकर्षण वाला है

परमात्मा, इतना जबरदस्त आकर्षण है उसमें, कि जिन्होंने उस आकर्षण का अनुभव किया है वे कहते हैं कि एक बार आपने स्वयं अपने द्वारा उससे जुड़ जाने का संकल्प किया नहीं कि वह इतनी जबरदस्ती, इतने जोर शोर से पकड़ लेता है कि मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ जायेंगी कहाँ ?

कृष्ण प्रेम की पगी हुई गोपियाँ सन्ध्याकाल में, गोधूलि के समय सब घर बार का काम छोड़-छोड़ करके दरवाजे-दरवाजे लग-लग कर खड़ी हो जातीं। किस लिए ? कि गउएँ चराकर बन से लौट रहे होंगे तो धूलि धूसरित बदन होगा, मुख पर धूलि-कण पड़े होंगे और बंशी बजाते हुए अपनी चटकीली-मटकीली चाल से चलते हुए इस रास्ते से निकलेंगे तो हम उनका दर्शन करेंगी। तो आकृति तो आयेगी बाहर, और प्रेम के कारण से एकता हो गयी भीतर। श्यामसुन्दर आए भी और बंशी बजाते हुए निकल भी गये और सखियाँ पूछ रही हैं कि अरे अभी तक आए नहीं ? कितनी देर हो गयी ? क्या हो गया ? रात हो गयी ? तो दूसरी कहती है कि कैसी बात करती हो, तुम तो टकटकी लगा कर देख रही थीं। अभी तो इधर से निकले हैं। क्या सोच रही हो ? तो कहती है कि 'अरे हम तो देख ही नहीं सके।' तो देखेंगी कैसे ? देखे हुए का भास कैसे होगा ? जब आप द्रष्टा बनते हैं, बाहर दृश्य होता है तो आप में और उसमें जब तक भेद होता है तब तक दिखाई देता है। तब तक पता चलता है कि मैंने देखा और दृष्टि कहती है कि 'हे सखी, क्या बतायें, जब से इन आँखों ने उस भुवन-मोहन रूप को देखा, मुझको छोड़ कर चली गई।' तो इन्द्रियाँ तो सदा के लिए छोड़ करके उस मधुर आकर्षण में लीन हो गई, अपने पास आँखें हो तो कुछ दिखाई दे। है कहाँ ? वहाँ से लौटकर आवे तब न। वह तो उनका मूल आधार है। वह तो उनके समस्त आकर्षण का स्रोत है। उसमें जा करके मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ जब लग जाती हैं तो लौट कर आती नहीं है। इसलिए महाराज जी ने क्या कहा कि भैया, जब

तक तुमको ऐसा लगता है कि आज सबेरे तो बड़ा अच्छा ध्यान लगा था, अब क्या हो गया, अब तो ध्यान दूसरी तरफ चला गया तो जब तक ऐसा लगता है तब तक सोचना चाहिये कि परमात्मा में मन लगा ही नहीं था। वह तो तुम्हारे किसी क्रिया-कलाप का फल होगा कि तुमको मालूम हुआ था कि मन लग गया। लगा नहीं था। लग जाता, एक बार उसमें जाकर टिक जाता तो वहाँ से हटने का कोई प्रश्न ही नहीं।' तो हम लोगों को अब क्या करना चाहिये? आज की अपनी दशा कैसी है?

आज की दशा ऐसी है कि हम चाहते हैं कि ईश्वर-विश्वास हमारे जीवन में सजीव हो जाय, तो यह बड़ा ही शुभ संकल्प है और इस शुभ संकल्प की पूर्ति में सभी भगवद्भक्तों की सद्भावना हम लोगों के साथ काम करती रहती है। स्वामीजी महाराज ने मुझे बताया कि देखो, मीरा जी सशरीर प्रेम की धातु में परिवर्तित होकर परमात्मा में मिल गई। चैतन्यमहाप्रभु प्रेम के अवतार, परमात्मा स्वरूप हो गये। संत ईसा प्रेम के स्वरूप अपने खुदा-बाप से अभिन्न हो गये। तो इन भक्तों को सशरीर आज हम लोग नहीं देखते हैं लेकिन उनकी जो भक्ति भावना थी वह अभी भी वायुमण्डल में व्याप्त है। और आज भी और आगे भी कोई साधक भगवत्भक्त होकर उनके प्रेमस्वरूप से अभिन्न होना पसन्द करेगा तो उसका संत ईसा, भक्तिमती मीराजी, भक्त प्रहलाद जी, चैतन्यमहाप्रभु आदि सब की सद्भावनायें मिलती रहेंगी। एक बार इस शुभ संकल्प यानी माँग की पूर्ति के लिए अपने को तैयार तो करो। तो जैसे-जैसे तुम्हारे भीतर यह लालसा जगती जायेगी कि कितना अच्छा होता कि हमारे जीवन में प्रभु-विश्वास, प्रभु-सम्बन्ध सजीव हो जाता, कितना अच्छा होता कि यह तुच्छ जीवन प्रेम की धातु में परिवर्तित होकर उस परम प्रेमास्पद को आनन्द देने के लायक हो जाता, वैसे-वैसे यह लालसा तुम्हारे भीतर धीरे-धीरे बढ़ती जायेगी। इसमें बड़ा बल है। मैंने ऐसा सुना है कि भूले भटके भी

कोई मनुष्य, किसी क्षण में, इस माँग का अनुभव करता है, उसकी ओर से थोड़ी सी, चेष्टा होती है तो उस परम प्रेमास्पद प्रभु की ओर से बहुत सामर्थ्य उसको मिलती है। वे सामर्थ्य देते हैं।

हम सब लोग अभाव की पीड़ा से मुक्त हो जाँय, जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाँय और अपने क्रोध से दूसरों को जलायें नहीं। अपने ताप से शान्त वातावरण को गरम न करें। अपनी तृष्णा से सब जगह वायुमण्डल को दूषित न करें—ऐसी जरूरत केवल मुझे ही थोड़े ही है। मैंने अपने द्वारा अपने जीवन में दोनों ही चित्र देखे हैं। मैंने अनुभव किया है कि आदमी जब अभाव से पीड़ित होकर, सुख-भोग की वासना से प्रेरित होकर संसार की ओर देखता है, वस्तु-व्यक्तियों की ओर देखता है तो उसकी सुख-भोग की वासना से हवा गन्दी होती है। धरती जैसे कि नीचे धँस जाती हो। और जब वही मनुष्य सत्य की जिज्ञासा से जाग्रत होकर प्रभु-प्रेम की लालसा से प्रेरित होकर धरती पर खड़ा होता है—सिद्ध नहीं बना है अभी, अभी उसके भीतर केवल जिज्ञासा जगी है, अभी उसके भीतर केवल प्रेमस्वरूप प्रेमास्पद के साथ प्रेम के आदान-प्रदान की अभिलाषा जगी है तो भी धरती माता ऊँची हो जाती है। हवा बहुत ही उन्मुक्त होकर बहने लगती है। एक मनुष्य यदि भीतर से निष्काम हो जाता है यह सोचकर कि मैंने देख लिया संसार का खट्टा-मीठा स्वाद, सब मुझको मालूम हो गया। अब हे प्रभु! अब तो आपके प्रेम-रस की प्यास है, इसलिए मुझे अब इस संसार से कुछ नहीं चाहिये। तो, जहाँ उसके भीतर प्रेम-रस की प्यास लगी और जहाँ उसने संसार की कामनाओं का त्याग किया, तो उस निष्काम चित्त वाले व्यक्ति से, उस निष्काम जीवन वाले भक्त की उपस्थिति से हवा बिल्कुल फ्री (*Free*) होकर बहने लगती है। हल्की-हल्की लगने लगती है। सरस-सरस लगने लगती है।

प्रेमस्वरूप परमात्मा हैं और भक्त प्रेमस्वरूप होना चाहता है। इस रस का सागर लहरा रहा है, इधर रस की प्यास है तो आयेगा जी भरकर पीने के लिए वह जिसमें से प्रेम-रस उमड़ता रहता है। वह तत्त्व ऐसा अदृश्य है और ऐसा अलौकिक है कि इन स्थूल आँखों से आप उसको देख तो नहीं पायेंगे, लेकिन चूँकि आपका अस्तित्व भी अलौकिक है तो वह आप ही की जाति का है, इसलिए दोनों का मेल जब हो जाता है तो वह प्रकट हो जाता है, पता चल जाता है।

मुझे अपनी पुरानी बात याद करके बड़ी लज्जा लगती थी। बड़ा छोटा-पन लगता था भीतर-भीतर। मैंने कहा हे भगवान अगर मैंने जल्दी से जल्दी प्रेम और भक्ति का बंधन स्वीकार कर लिया होता, अगर मैंने जन्दी से जल्दी सुख-भोग की वासनाओं को छोड़कर अपने को साधक स्वीकार कर लिया होता, तो आनन्द के आदान-प्रदान का कितना मौका मिलता। हाय अब क्या करूँ? अब तो जिन्दगी का बहुत बड़ा भाग निकल गया। किसमें निकल गया? कि सुख, सम्मान, सुविधा के लिए लड़ने झगड़ने और खींचतान में निकल गया। ऐसी सुविधा तुमको है, हम को क्यों नहीं है? तुमने उनके साथ ऐसा किया, मेरे साथ क्यों नहीं किया? तुमने उसको इतना आराम दिया, मुझको क्यों नहीं दिया? हाय रे, हृदय की तुच्छता। यह दिल में क्यों नहीं आता कि जो आराम मुझे नहीं मिला था वह उसको मिल रहा है तो बड़े आनन्द की बात है।

कितने आनन्द की बात है कि वही मनुष्य कामनाओं से प्रेरित हो कर धरती पर पाँव रखता है तो धरती धँस जाती है और वही मनुष्य निष्काम होकर प्रभु-प्रेम की लालसा लेकर खड़ा होता है तो प्रेम का सागर लहराता है। क्यों? क्योंकि वह प्रेम स्वरूप विद्यमान है। उस आनन्द की लहर को आप अनुभव कर सकते हैं। किस काल में? साधन-काल में। सिद्धि-काल की चर्चा मैं नहीं कर रही हूँ। सिद्धि-काल की बात तो सिद्ध

पुरुष जानें। हम और आप तो साधक बन कर बैठे हैं। तो मैं साधन-काल की चर्चा करती हूँ कि आप भी उस आनन्द की लहर अनुभव कर सकते हैं। वह लहर आपको छूती है तो आपको मस्ती आती है। सभी विकार नष्ट हो जाते हैं। यदि दो-चार क्षणों के लिए भी अहंशून्य हो करके उस प्रेम और ज्ञान के प्रकाश का स्पर्श आपने अपने द्वारा अनुभव कर लिया, तो उस अनुभव में अनेकों वर्षों के विकार धुल जाते हैं। यह साधन-काल का अनुभव है। अपने में मिलाने की कृपा जब वे करेंगे और उसके बाद बोलने का अवसर मिला तो बताऊंगी कैसा लगता है। आज इतना ही रहने दिया जाय।

•••••

सन्त-वाणी

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि समस्त वस्तुओं के द्वारा अपने को अविनाशी, स्वाधीन तथा चिन्मय जीवन की उपलब्धि नहीं हो सकती। इस वास्तविकता में आस्था हो जाने पर मानव समस्त दृश्य से विमुख होकर अपने में संतुष्ट होने के लिए विवश होता है।

❖❖❖

विश्राम काल में होने वाले चिन्तन से साधक को अपनी रुचि का अनुभव करना चाहिए। किन्तु उसका समर्थन या विरोध अथवा उससे तादत्म्य रखना भारी भूल है। उसका समर्थन कर्म को जन्म देता है उससे असहयोग करना साधन-रूप सिद्ध होता है।

प्रवचन 5

उपस्थित महानुभाव सत्संग-प्रेमी माताओं, बहिनो और भाइयो !

मनुष्य के जीवन में उसके पूर्ण विकास के लिए जो आवश्यक तत्त्व हैं, वे हम लोगों को जन्मजात प्राप्त हैं। कर्म करने की सामर्थ्य मिली है, विचार करने की सामर्थ्य मिली है और प्रेम पूवर्क, भाव पूर्वक, विश्वास करने की सामर्थ्य मिली है। कर्म, ज्ञान और प्रेम क्रियाशक्ति, विचारशक्ति और भावशक्ति तीनों ही प्रकार की शक्तियाँ सभी भाई-बहिनों को जन्मजात प्राप्त रहती हैं। जीवनदाता, जन्म-दाता ने साधन-सामग्री से सम्पन्न करके हम लोगों को संसार में भेजा है। कार्य-क्षमता का सही उपयोग हो गया होता तो हमारे भीतर से 'करने' का राग मिट गया होता। 'करने' का राग मिट गया होता तो जन्म-मरण की बाध्यता खत्म हो गई होती।

आज जिस दशा में हम लोग अपने को पाते हैं उस दशा का अध्ययन करें, तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अनेक बार हम लोगों को शरीर धारण करके संसार में रहने का मौका तो मिला, लेकिन शारीरिक बल के द्वारा जो कार्यक्षमता मिली, उस कार्यक्षमता का हमने सही उपयोग नहीं किया। अगर हमने उसका ठीक उपयोग किया होता तो राग मिट गया होता। फिर जन्म लेकर इस धरती पर आने की आवश्यकता शेष नहीं रहती। तब हम सब लोग सशरीर यहाँ बैठे हैं। इसका मतलब है कि अभी तक हमने कार्य-क्षमता का पूरा उपयोग नहीं किया है, इसलिए कुछ करना शेष रह गया है। पूरा उपयोग करने का अर्थ क्या है? शरीर को लेकर संसार में रहते हुए, मनुष्य होने के नाते, साधक होने के नाते, शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम पाने या जिज्ञासु होने के नाते, अपने को क्या करना चाहिए?

महाराज जी ने सलाह दी कि दुनियाँ में रहते हुए ममता के सम्बन्ध से ऊपर उठ जाओ। जगत् के नाते, आत्मा के नाते, परमात्मा के नाते सभी

को अपना मानो। सभी को अपना मानने का यह बहुत ही सहज, स्वाभाविक परिणाम निकलेगा कि किसी भी दुःखी को देखकर तुम्हारा हृदय द्रवित होगा, करुणा उपजेगी, और किसी भी सुखी को देखकर तुम्हें प्रसन्नता होगी। दुःखी मात्र के दुःख से करुणित होना और सुखी मात्र के सुख से प्रसन्न होना—यह मनुष्यता का पहला लक्षण बताया महाराज जी ने। इस दुनियाँ में रहने का यह पहला नियम है, कि भाई, दुःखी मात्र के दुःख से द्रवित होना चाहिए, हृदय को करुणित होना चाहिए और सुखीमात्र के सुख से प्रसन्न होना चाहिए। दुःख देख कर दुःखी होना और सुख देखकर प्रसन्न होना हम लोगों को आता है कि नहीं? जी? आता है। लेकिन हमसे गलती क्या होती है कि जगत् के नाते सभी को हम अपना नहीं मानते, आत्मा के नाते सभी निजस्वरूप हैं, यह भी हम नहीं मानते और परमात्मा के नाते सभी मेरे प्यारे के प्यारे हैं, यह भी नहीं मानते। तब क्या मानते हैं?

अब देखिए, अपनी भूल अपने को दिखाई देगी। जीवन का जो दार्शनिक सत्य है (*Philosophical Truth*) उस पर से दृष्टि हट गई। सारा जगत् एक इकाई है, एक समष्टि शक्ति के द्वारा संचालित है तो सारा जगत् शरीर की दृष्टि से एक है। इस बात को हम लोग भूल गए कि सभी निज स्वरूप हैं, सभी अपनी आत्मा के स्वरूप ही हैं—तो निज स्वरूप होने के नाते, आत्मस्वरूप होने के नाते सभी अपने हैं। इस बात को भी हम भूल गए कि सारी दृष्टि के बनाने वाले एक अकेले परमात्मा हैं। सभी प्राणी उनको प्रिय हैं, सभी प्राणी उनके अपने हैं। तो प्यारे प्रभु के नाते सभी अपने हैं, यह भी हम भूल गए। भौतिकवाद के सत्य को भुला दिया हमने, अध्यात्मवाद के सत्य को भुला दिया हमने, ईश्वरवाद के सत्य को सामने से हटा दिया हमने। और सामने किसको रख दिया? देहवाद को।

देहवाद सामने आ गया, तो क्या हो गया? कि यह तो इस शरीर से पैदा किए हुए बच्चे हैं इसलिए इनके दुःख से दुःखी होते रहो, इनके सुख से प्रसन्न होते रहो और इनको सुखी करने के लिए अन्य बच्चों को, अन्य शरीरों को दुःख देने में भी न हिचको। तो विकास होगा कि ह्रास होगा? ह्रास होगा। विकास हो नहीं सकता, क्योंकि यह सत्य नहीं है। शरीर से माना हुआ सम्बन्ध सत्य नहीं है। क्यों नहीं है? क्योंकि जिन शरीरों के कारण से मैंने सम्बन्ध माना, क्या वे माने हुए शरीर के सम्बन्धी सदा के लिए अपने साथ हैं? नहीं हैं। जिन शरीरों के सम्बन्ध से कभी मैंने किसी को माता-पिता करके माना था, क्या वे माता-पिता अपने साथ सदा के लिए हैं? नहीं हैं। जिन बच्चों को शरीर से पैदा करने के कारण अपना बेटा-बेटी करके हमने माना था, उनके साथ सदा के लिए संयोग निभ गया? नहीं निभा। तो आँखों से दिखाई देता है, बुद्धि से समझ में आता है कि शरीर के माध्यम से माना हुआ सम्बन्ध नित्य सम्बन्ध नहीं हैं। फिर भी इसको प्रधानता दे दी, तो असत् को प्रधानता दे दी।

देह के सम्बन्ध से जिनको अपना माना, उनके प्रति आसक्ति पैदा हो गई और उनकी आसक्ति के कारण दूसरों से द्वेष पैदा हो गया। जब भीतर में ममता का दोष पैदा हो जाय और राग-द्वेष का विकार पैदा हा जाय, तो सत्य का दर्शन होगा? नहीं होगा। क्या होता है कि जिनको अपना माना, उनका दुःख तो हम को व्याकुल कर देता है और जिनको अपना नहीं माना उनका दुःख देखते हुए भी हम आराम से खा लेते हैं और सो जाते हैं। जिनको हमने अपना माना, उनके सुख को देखकर तो प्रसन्नता हो जाती है और जिनको अपना नहीं माना उनकी सुख-सुविधा को देख कर भीतर में ईर्ष्या पैदा हो जाती है। यह मनुष्यता का लक्षण है? नहीं है। और ये दोष जीवन में बनाए रखेंगे, तो किसी भी जप-तप के द्वारा सत्य की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। सोचना यह है कि जप-तप

का आरम्भ करना जरूरी है कि जो मनुष्यता का लक्षण नहीं है, जो दोषों, विकारों के रूप में, मुझ को मेरे सत्य से दूर करने वाली बातें हैं, उनको अपने में से निकालना ज्यादा जरूरी है? पहला कदम क्या है? स्वामी जी महाराज कहते हैं कि काम करने की शक्ति जो मिली है, कर्म का महत्त्व जो मनुष्य के जीवन में है, उस कर्म को ज्ञान से प्रकाशित करके, प्रेम के भाव से कोमल करके ऐसे कर्म करो कि तुम्हारा ही किया हुआ कर्म तुमको 'करने' के राग से मुक्त कर दे। यह एक खास बात हो गई। यह पहली बात हो गई।

दूसरी बात, महाराज जी ने कहा कि देखो भैया! यह जो बिल्ली है—यह जिन बच्चों को पैदा करती है, उनको अपने दाँतों से बड़ी कोमलता से उठाकर एक जगह से दूसरी जगह ले जाती है। ऐसा हम लोगों ने सुना है, कि सात बार जगह बदलती है, तब उसके बच्चों की आँखें खुलती हैं। तो उन्हीं दाँतों से, जो बड़े ही हिंसक और तीखे होते हैं, उन्हीं दाँतों से अपने पैदा किए हुए बच्चों को तो बड़ी कोमलता से पकड़ कर एक जगह से दूसरी जगह ले जाती है। और वही बिल्ली चूहा दिख जाय तो उन्हीं तीखे दाँतों को उसके गले में ऐसे गड़ा देती है कि उसकी हिंसा हो जाती है और उसको चबा कर खा करके अपना पेट भरती है। हिंसक जन्तु है। उसके बड़े तीखे दाँत हैं, लेकिन जिन बच्चों के प्रति उसकी ममता है, उनको तो बड़ी कोमलता से छूती है और जिन चूहों को मारकर खा जाना चाहती है, उन चूहों पर उन्हीं दाँतों से बड़े तीखे आक्रमण करती है। तो जिसको अपना मानोगे उसके प्रति कोमलता रखोगे। जिसको पराया मानोगे उसके प्रति कठोरता रखोगे। तो यह लक्षण तो पशु का है, बिल्ली का है। यह लक्षण मनुष्य का तो नहीं होना चाहिए।

अब देखो। हम लोग भी साधक होकर, सचेत होकर, विचारक होकर, सत्संगी होकर, ईश्वर-विश्वासी होकर के अगर अपने-पराये का भेद रखेंगे, राग और द्वेष के दोष में बँधे रहेंगे तो सत्य का दर्शन कैसे होगा?

पहले आँख बन्द करके, ध्यान लगा करके, इष्ट के विग्रह पर दृष्टि गड़ाने की चेष्टा करने की जरूरत नहीं है। पहले दार्शनिक सत्य को अपना करके अपने भीतर से राग-द्वेष मिटाने की जरूरत है, क्योंकि इस राग-द्वेष के रहते हुए सत्य का दर्शन नहीं होता है, चित्त की शुद्धि नहीं होती है। इसलिए स्वामी जी महाराज ने बताया कि भाई ! दुःखी मात्र को देखकर करुणित होना और सुखी मात्र को देखकर प्रसन्न होना मनुष्यता का पहला लक्षण मानो और ऐसा अपना स्वभाव बनाओ। गलत बात को हम पकड़े रहेंगे, तो सही बात का अनुभव हो नहीं सकता। गलत बात को छोड़ना चाहेंगे, तो गलत बात का कोई अपना मौलिक आधार नहीं होता। जो बात गलत है, सही नहीं है, उसको त्यागने में अपने लोगों को कोई कठिनाई नहीं होगी, देर नहीं लगेगी। और जो भौतिकवाद का सत्य है, जो अध्यात्मवाद का सत्य है, जो ईश्वरवाद का सत्य है उसको अपनाने में अपने को किसी प्रकार की पराधीनता नहीं है। इस दृष्टि से अगर आप अपनी साधना को सफल करना चाहते हैं, तो कर्म के क्षेत्र में अपने को शुद्ध बनाइए।

इसमें बड़ा भारी वैज्ञानिक सत्य यह है कि व्यक्ति के जीवन में जब करुणा का रस आता है, तो उसके भीतर से सुख-भोग की रुचि खत्म हो जाती है। सुख अलग बात है। वह तो भाग्य के विधान से कितना मिलगा, कौन कह सकता है? लेकिन सुख-भोग की रुचि को रखना इसमें अपने लोगों का बड़ा घाटा है। क्या घाटा है? कि रुचि भीतर-भीतर बनी रहती है, और सुख मिल गया तो हम सुख के हाथों बिक गए। "अमर आत्मा सच्चिदानन्द मैं हूँ" यह जो अपना सत्य स्वरूप था वह तो एक किनारे रह गया और सुख-भोग की रुचि की पूर्ति में हम सुख के हाथ बिक गए। दुःख के भोगी बन गए। और अगर रुचि है और उसकी पूर्ति नहीं होती, तो अभाव और नीरसता में फँस गए—यह एक बड़ा भारी मनोवैज्ञानिक

तथ्य है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है, कि जो व्यक्ति भीतर-भीतर जितनी नीरसता से पीड़ित है वह काम-वासना के फेर में पड़ा रहता है। जितनी नीरसता सतायेगी उतनी ही काम-वासना उग्र होगी। यह शोध-कार्य का परिणाम है कि स्लम एरिया *(Slum Area)* झुग्गी झोंपड़ियों में अपराधी (क्रिमिनल) अधिक पैदा होते हैं, अभाव और नीरसता में पले हुए लोगों के यहाँ बच्चों की संख्या बहुत अधिक होती है। यह रिसर्च के परिणाम के आँकड़े मैं सुना रही हूँ, कोई कल्पना नहीं है। इसका एक कारण यह बताया गया कि आदमी के जीवन में जितनी अधिक नीरसता रहती है, उतनी ही काम-वासना उग्र होती है। अब साधक के स्तर पर आ जाइए।

आप साधक हैं। आप शान्त रहना पसन्द करते हैं, आप मन को निश्चिन्त, निर्विकल्प, अचिन्त बनाना पसन्द करते हैं और अपना लक्ष्य भी यही है कि हमें शान्ति मिले, निर्विकल्पता मिले निश्चिन्तता मिले, अचिन्त हो जायें हम, और हमारी सारी वृत्तियाँ बाहर से अन्दर की ओर जा करके नित्य योग, तत्त्व-बोध, परम-प्रेम में जुट जाएँ। तो यह जो हमारा लक्ष्य है, इस लक्ष्य की पूर्ति में, आप अपना दिल टटोलकर देखिए, कि संसार के संयोग-जनित सुख की रुचि के अलावा और कोई बाधा है क्या? हम वृत्तियों को अन्दर ले जाना चाहते हैं और वे बाहर-बाहर दृश्य जगत् की ओर भटकती रहती हैं। इस संघर्ष में साधक का बहुत-सा समय निकल जाता।

कुछ दिन हुए एक माँ मिली थीं। कहने लगीं कि अरे! मैं तो बाल बच्चेदार हूँ, घर-गृहस्थी वाली हूँ, रोज-रोज तो आती नहीं हूँ। आज आ गई हूँ, तो मुझको पूजा कर लेने दो, तो बाल बच्चेदार होना, घर-गृहस्थी वाली होना सत्संग से दूर होने का लाइसेन्स है क्या? है क्या? नहीं है।

मानव-सेवा-संघ के नाम से स्वामीजी महाराज ने जो सत्य हम लोगों के सामने रखा, वह इस प्रकार से रखा, कि भाई! आप बाल-बच्चेदार हैं,

घर-गृहस्थी वाले हैं, कमाने-खाने वाले हैं, कारोबार करने वाले हैं, शासन के सूत्रधार हैं, जन-समाज की सेवा करने वाले हैं—ये सब हम लोगों की मान्यताएँ हैं—इनको अगर साधनरूप नहीं बनाओगे, तो इसमें से निकलने की सामर्थ्य कभी नहीं आएगी। इसमें से निकलने की सामर्थ्य आपको चाहिए। इसलिए आज की जो आपकी मान्यता है, उसी में आप अपने को साधक स्वीकार करिए। साधक की स्वीकृति में सुख-दुःख को फिट *(Fit)* करिए। समाज में रहते हुए समाज का, संसार का, परिवार का काम करते हुए आप कह सकते हैं, कि मुझ को सुख-दुःख ने छुआ नहीं है? नहीं कह सकते? तो भाई! सुख भी अपने को छू रहा है, दुःख भी अपने को छू रहा है। सुख-दुःख का स्पर्श जो अपने को हो रहा है इसी दशा को साधन रूप बनाइए। कैसे बनाइएगा? अभी तो चार बच्चों के दुःख से दुःखी हो रहे थे, अब साधक होने के नाते, प्यारे प्रभु के नाते सब बच्चों को उनकी फुलवारी के पुष्प मानेंगे और किसी भी बच्चे का दुःख देखकर के हमारे हृदय में करुणा उपजेगी। किसी भी बच्चे का हँसना-खेलना देखकर के, किलकारी मारते बच्चों को देख कर हमारे भीतर प्रसन्नता होगी। इसमें कहीं पैसा खर्च होने का नहीं है। महँगाई से कोई तंगी आने वाली नहीं है। अगर इतना भी हृदय को उदार बनाने के लिए हम लोग तैयार नहीं हैं, तो सारी सृष्टि को जो अपने अनन्त माधुर्य के रस में समेट कर रखता है, सबकी खबर रखता है, सबकी रक्षा करता है, सबको प्यार करता है, उस परमात्मा का प्रेम अपने को कैसे मिलेगा? यह साधना घरबारी लोगों के लिए है, बाल बच्चेदार लोगों के लिए है, जीवन को आरम्भ करने वालों के लिए है, समाज का काम करने वालों के लिए है। इसलिए इस साधना को आप आरम्भ करिए।

दुःखी मात्र के दुःख से करुणित होना तो अच्छा है ही। लेकिन सबसे सुन्दर बात यह है कि हृदय में जब करुणा का रस आता है, तो

सुख-भोग की रुचि का नाश हो जाता है। आप सोच करके देखिए कि ममता के घेरे को तो तोड़ा नहीं और शरीर से पैदा किए हुए लोगों के मोह में अपने को बाँध कर रखा, साधन के समय में अकेले में एक घण्टा के लिए बैठ करके सुख-भोग की रुचि को हटाकर, मिटाकर उसके चिन्तन को दबा कर भगवत्-चिन्तन करना चाहते हैं, तो क्या ममता के घेरे में बँधे हुए व्यक्ति के वश की यह बात है कि वह भीतर से नीरसता को मिटा दे? नहीं मिटा सकेगा। आँख बन्द करके, अकेले में बैठकर के, मन की वृत्ति के साथ संघर्ष करना ठीक है, कि दुनियाँ में रह करके हृदय के दायरे को बढ़ाना स्वाभाविक है? बढ़ा सकते हैं न! आज ही से बढ़ाना शुरू कर दें। बहुत जल्दी लाभ हो जाएगा। देर नहीं लगाना। क्या जाने, यह मौका कब तक है। कोई कह नहीं सकता।

आज तो शरीर में थोड़ा बल मालूम होता है, बुद्धि में थोड़ी समझ मालूम होती है, हृदय में थोड़ी उदारता मालूम होती है, परिस्थिति अनुकूल दिखाई देती है, इसलिए आज ही अगर दिल के दायरे को बढ़ाने का प्रोग्राम हमने शुरु नहीं कर दिया तो कल क्या जाने प्रतिकूल परिस्थिति आ जाएगी, तो हम ही दया के पात्र बन जायेंगे, दूसरों की सहायता लेने के लायक बन जावेंगे। तब यह काम कैसे बनेगा, भाई? तो महाराज जी कहते हैं कि जब तक तुम्हारे पास अनुकूलता आई है, बहती गंगा में हाथ धो लो। अपनी अशुद्धि को मिटाने के लिए तुम शुद्ध हो जाओ। दो बातें हुई। करुणा का रस मनुष्य के हृदय में आता हे तो सुख-भोग की रुचि का नाश हो जाता है। करुणा और प्रसन्नता मनुष्य के लिए इतना आवश्यक तत्त्व है कि इसके द्वारा बड़े जबरदस्त भव-रोगों का नाश हो जाता है, इसलिए इसको उन्होंने अनिवार्य कदम बताया।

अब इसके बाद अध्यात्म-जीवन में प्रवेश करिए। हम लोगों के लिए तो केवल दुनियाँ में कुशलता से निर्वाह करने की बात ही नहीं

है—इस दुनियाँ में कुशलता से अपना निर्वाह भी करना है और मरने से पहले दुनियाँ के बन्धन से मुक्त भी होना है। वह भी तो एक काम है न! संसार में हम रहेंगे तो किसी को नुकसान नहीं पहुँचायेंगे। भगवत् नाते, आत्मा के नाते सबको अपना मानेंगे। दूसरों के दुःख से हृदय करुणा से भरा रहेगा, दूसरों के सुख से हृदय प्रसन्नता से भरा रहेगा। यह तो दुनियाँ में रहने का तरीका हो गया। अब दुनियाँ के बन्धन से मुक्त भी होना है तो अध्यात्म-जीवन को आरम्भ करो। इस सत्संग का जो स्थान बना है इस पर अध्यात्म-भवन लिखा हुआ है। क्या मतलब है? यहाँ आकर जो हम लोग बैठते हैं तो अध्यात्म-जीवन पर भी विचार करते हैं और उसमें भी हम लोगों को प्रवेश पाना है। तो अब आध्यात्मिक विकास पर विचार करो। भौतिक दर्शन से जीवन का एक *Aspect* हो गया .... एक पहलू हो गया। अब आगे बढ़ें।

राग-द्वेष को छोड़कर के जो हमने अपने परिपार्श्व में दुःखी जन के साथ अपना सुख बाँटना पसन्द किया, तो जिनके साथ हमारा सम्पर्क बना और जिनके प्रति सद्भावना लेकर के छोटी-से-छोटी सेवा हमने की, उनको अपना ही मान कर की। उनको अपने प्यारे का प्यारा मानकर की। ईश्वरवाद की दृष्टि से अपने प्यारे की प्रसन्नता के लिए की, अध्यात्मवाद की दृष्टि से राग-निवृत्ति के लिए की, भौतिकवाद की दृष्टि से सुन्दर समाज के निर्माण के लिए की। किसी भी सही, वास्तविक दृष्टिकोण से जो भी कुछ सेवा अपने से बन पड़ी—छोटी-से-छोटी सेवा, जो मैंने जगत् के प्रति अर्पित की—उस सेवा के बदले में अपने को किसी प्रकार का कोई फल नहीं चाहिए। यह जरूरी हो गया। तो आप पैसे वाले हैं, और उनको सेवा में लगाने जा रहे हैं। जिनके पास पैसा नहीं है, की हुई सेवा के बदले में उनसे पैसे की आशा तो आप करेंगे नहीं, क्योंकि उनके पास है ही नहीं। लेकिन अपने भीतर अगर किंचित् मात्र भी ऐसा ध्यान में आ गया, कि की

गई सेवा से समाज में मेरी ख्याति हो जाएगी अथवा जिनकी सेवा हम कर रहे हैं, वे एक बार कृतज्ञताभरी दृष्टि से मेरी और देखेंगे—अगर इतनी भी आशा अपने भीतर रखकर के काम करने हम चले, तो सही-सही सेवा नहीं बनेगी। क्यों? क्योंकि कोई दुःखी अगर आपकी सेवा से प्रसन्न होकर कृतज्ञताभरी दृष्टि से आपको देखेगा, तो आप शरीर से सम्बन्ध रखेंगे, तब न उसकी दृष्टि का सुख लेंगे! ठीक है न! तो शरीर का सम्बन्ध तोड़ने का प्रश्न जो है वहीं पर खत्म हो जावेगा। कोई प्रशंसा-सूचक शब्द कहेगा, तो कान से सम्बन्ध रखेंगे तब उसे सुनेंगे और देह का अभिमान भीतर रखेंगे, तो प्रशंसा-सूचक शब्दों से आनन्दित होंगे। तो प्रशंसासूचक शब्दों को सुनना और उसका सुख लेना अगर आपको पसन्द आ गया, तो देह के अभिमान से ऊपर उठना सम्भव होगा? देह के अभिमान से अपने को ऊपर नहीं उठाया तो अविनाशी जीवन से अभिन्नता सम्भव होगी? निजस्वरूप का बोध सम्भव होगा? 'सच्चिदानन्द मैं हूँ'—यह कथन सिद्ध होगा? नहीं होगा।

तो भौतिक जीवन की विकसित दशा क्या है? दुःखी मात्र के दुःख से करुणित होना और सुखी मात्र के सुख से प्रसन्न होना। आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश पाने का उपाय क्या है? कि भाई, जो भी कुछ यहाँ हम करेंगे उसके बदले में संसार से किसी प्रकार की आशा नहीं रखेंगे। इससे तब क्या होगा, कि करने के समय काम करेंगे और काम खत्म होगा तो शरीर और संसार से बिल्कुल सम्बन्ध टूट जावेगा। आप एक्सपेरीमेन्ट *(Experiment)* करके देख लीजिएगा प्रयोग करके देख लीजिएगा। अगर किसी प्रकार का लगाव संसार के साथ रखो तो उसका चिन्तन कभी नहीं टूटता है। और अगर संसार से कुछ न चाहो, तो सम्बन्ध रहता ही नहीं है। एकदम खत्म हो जाता है।

स्नायुमण्डल के अध्ययन में बड़ा बढ़िया उदाहरण हमको मिला था। एक-एक यूनिट जो होता है मनुष्य के स्नायु का, वह बिल्कुल एक-दूसरे से अलग होता है। उसमें जुटा हुआ कनेक्शन नहीं होता है। एक सूई यहाँ चुभ गई और सूचना एकदम जा करके मस्तिष्क पीड़ा-केन्द्र में पहुँच गई और पीड़ा आपको मालूम हुई और झट से आपने हाथ हटा लिया। पूरे सर्किट ने काम कर दिया संवेदना *(sensation)* ले जाने वाले स्नायु ने *(Pain Sensation centre)* पीड़ा केन्द्र तक पहुँचा दिया और कर्मेन्द्रिय को चलाने वाले स्नायु ने फट से उँगली को वहाँ से हटा दिया। स्नायुकोष की जितनी इकाइयाँ हैं सब एक-दूसरे से अलग-अलग पड़ी रहती हैं। कोई *(structural relations)* (रचनात्मक सम्बन्ध) उनमें नहीं होता है। रचना की दृष्टि से उनमें सम्बन्ध नहीं होता है। सब अलग-अलग एक-एक यूनिट पड़ा रहता है। जब कोई सम्वेदना उनको यहाँ से वहाँ ले जाना होता है तो क्रियात्मक सम्बन्ध *(funcitional relation)* बन जाता है। यह रचनात्मक सम्बन्ध नहीं है। तो क्रियात्मक संयोग बन जाता है। जब स्वामीजी महाराज के पास आकर 'मैं' और 'मेरे शरीर' का सम्बन्ध मेरी समझ में आया तो मैंने कहा कि ये कोरा क्रियात्मक सम्बन्ध *(functional relation)* है। *structural* अर्थात् संघटनात्मक सम्बन्ध नहीं है।

'मैं' बना है अलौकिक तत्त्व से, शरीर और संसार बना है भौतिक तत्त्व से। दोनों में रचनात्मक सम्बन्ध त्रिकाल में भी हो नहीं सकता। तो क्या होता है कि जब संसार को पसन्द करो तो झट से क्रियात्मक सम्बन्ध जुड़ जाता है और संसार से काम लेना खत्म करो तो झट से सम्बन्ध टूट जाता है। इतना स्वाभाविक है, इतना स्वाभाविक है कि आपको किसी प्रकार का परिश्रम और अभ्यास बिल्कुल ही अपेक्षित नहीं है। पता नहीं साधना करने वाले, साधना सीखने वाले, सिखाने वाले, लिखने वाले, सुनाने वाले किस-किस तरह का अभ्यास इतना फैला कर रख देते हैं। अरे भाई,

जिन शरीरों से तुमको अपना लगाव तोड़ना है, उन शरीरों के आधार पर अभ्यास करते रहोगे तो वह अभ्यासजन्य साधना तुमको अशरीरी जीवन में पहुँचाएगी कैसे? यह बात समझ में आती है?

महाराज जी ने कहा कि आध्यात्मिक विकास के लिए इस सत्य को स्वीकार करो—कि समग्र, दृश्य जगत् से तुम्हें अपने लिए कुछ नहीं मिलेगा। तुम हो अलौकिक, जगत् है भौतिक। इसमें से जो मिलेगा वह सब शरीरों के काम आएगा, तुम्हारे काम नहीं आ सकता है। इसलिए संसार का दिया हुआ जो सामान तुम्हारे पास है, वह संसार की सेवा में सधन्यवाद अर्पण कर दो और उसके बाद अकेले हो जाओ। जिसको दृश्य जगत् से मतलब नहीं रहता है उसका दृश्य जगत् से सम्बन्ध टूट जाता है।

एक बार मनोविज्ञान की छात्राओं को लेकर हम लोग प्रदर्शनी में गईं। वहाँ से वापिस आने पर एक मनोवैज्ञानिक प्रयोग किया गया। छात्राओं की प्रत्यक्षीकरण की शक्ति की जाँच की गई। उन्हें कागज, पेन्सिल देकर यह कहा गया कि तुमने प्रदर्शनी में जो-जो देखा है सो लिखो। छात्राओं ने अधिक-से-अधिक उन्हीं चीजों के नाम लिखे जिनमें उनकी अभिरुचि होती है, जैसे—रसोई का सामान, कढ़ाई की दुकानें, शृङ्गार की सामग्री, वस्त्रों और बर्तनों की चर्चा आदि। उस प्रदर्शनी में इन चीजों के अतिरिक्त और भी बहुत सी वस्तुएँ थीं, परन्तु छात्राओं का ध्यान उन पर नहीं गया। उन्होंने उन्हें नहीं देखा।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि दृश्य जगत् की जिन वस्तुओं से अपना लगाव है वे ही मनुष्य के प्रत्यक्षीकरण के क्षेत्र में आती है। अगर दृश्य जगत् से आप अपने लिए कुछ लेना नहीं चाहते हैं तो सच मानिए, जिस समय आप उससे लगाव तोड़िएगा, उसी समय उसका चिन्तन बिल्कुल समाप्त हो जाएगा। तो लगाव तोड़ना जरूरी है कि भीतर के चिन्तन को

मिटा कर फैंकने की चेष्टा जरूरी है ? जी ? लगाव तोड़ना जरूरी है न ! अच्छा, अब और सोचो ! लगाव रहने से संसार ने तुमको सन्तुष्ट कर दिया क्या ? जी ? नहीं कर दिया ! लगाव रखते-रखते भी लगाव रखने का यह माध्यम जो है चिता पर जल जाएगा। लगाव रह गया—शरीर जल गया—क्या दशा होगी ? सोचो, यम-यातना इसी का नाम मैं रखती हूँ ! लगाव रह गया, देखने की इच्छा रह गई और आँख खत्म हो गई। स्वाद लेने की इच्छा रह गई और पाचन-क्रिया खराब हो गई। शरीर से बाल-बच्चों से चिपकने की वासना रह गई और शरीर की ताकत घट गई। कैसी भयंकर स्थिति है !

इसी भयंकर स्थिति से तो बचना है भाई ! इसीलिए तो साधक बनने का प्रश्न है, इसीलिए तो भगवत्-शरणागति की आवश्यकता है। इसलिए स्वामी जी महाराज ने सलाह दी कि आगे बढ़ो और तुम्हारे पास जो है, इस जगत् की सेवा में अर्पण कर दो और बदले में किसी से किसी प्रकार की आशा मत रखो। सच्ची बात है, कि आप आशा छोड़ देंगे तो लगाव टूट जावेगा। आशा छोड़ देंगे तो चिन्तन छूट जाएगा। आशा छोड़ देंगे तो संकल्प-विकल्प बन्द हो जाएंगे। रास्ता खुल जाएगा आपका। बाहर से सारी वृत्तियाँ सिमट करके भीतर में स्थित हो जाएंगी। अन्तर्मुखी हो जाएँगे आप। और भीतर में ही वह केन्द्र है *The Main Spring of Life,* जीवन का मूल स्रोत भीतर ही है। तो जब जीवनी-शक्ति को हम बाहर खर्च नहीं करेंगे तो वह अन्तर में जाकर बड़े वेग के साथ अपने मूल तत्त्व में, अपने निज-स्वरूप में जाकर शामिल हो जाएँगी और आप सदा-सदा के लिए आनन्दित हो जाएँगे। यह विचार-शक्ति के सदुपयोग का परिणाम है कि हम की हुई भलाई के बदले में संसार से अपने लिए किसी प्रकार की आशा न रखें।

अब मनुष्य के जीवन का तीसरा पहलू भी है—भाव शक्ति। विचार-शक्ति के अतिरिक्त हम लोगों को एक विशेष शक्ति प्राप्त है वह है भाव-शक्ति। प्रेम का भाव, श्रद्धा-भक्ति, विश्वास का तत्त्व। जैसे कार्य करने की क्षमता मिली है, जैसे भले-बुरे पर विचार करने की शक्ति मिली है, ऐसे ही श्रद्धा, भक्ति, विश्वास, प्रेम—यह सब भी मिला हुआ है। यह भाव-पक्ष कहलाता है। तो इस भाव पक्ष का अब तक हमने भूल-मिश्रित उपयोग किया। इसलिए हमारे भीतर तरह-तरह की आसक्तियाँ पैदा हो गई। अब हम अपने को साधक कहते हैं। अब हम अपने को सत्संगी कहते हैं। अब तो इस बात पर हम तुल गए हैं कि इस शरीर का नाश होगा पीछे, और हम अपने वास्तविक स्वरूप से अभिन्न होंगे पहिले। इस बात के लिए हम लोग तैयार हो गए हैं। अब तक खूब खेल-तमाशे देख लिए। खूब सुख-दुःख की लहरियों में डूबना-उतराना सब देख लिया। अब जो इस जीवन का शेष भाग बचा है, वह तो सब प्रकार से योग, बोध, प्रेम से अभिन्न होने के लिए है। शान्ति, स्वाधीनता और सरसता से मिलने के लिए है। अब इस निश्चय के अनुसार काम करना है।

इसके लिए अनुभवी सन्त की सलाह है कि शरीर के नाते से सब सम्बन्ध मानना छोड़कर अब प्रभु के नाते से सम्बन्ध मानना आरम्भ करो। यह सारा संसार, सारी सृष्टि चराचर जगत, हमारे उस प्यारे प्रभु की ही अभिव्यक्ति है। ये सब उनको प्रिय हैं। ये सब उनके अपने हैं। तो मुझे अब क्या करना है? अपने भाव तत्त्व को पवित्र करने के लिए, देह का नाता मिटा करके, भगवत् नाते सभी के प्रति सद्भाव और प्रेम रखना है। यहाँ से आरम्भ करेंगे।

मेरा सम्बन्ध किससे है? तो मेरा सम्बन्ध केवल एक से है, अनेक से नहीं है। मैंने कई ईश्वरविश्वासियों को महाराजजी के पास यह कहते हुए सुना है कि हे महाराज! भगवान् को याद करने बैठी तो बहुत सी

बातें याद आने लगती हैं। तो महाराज जी कहते हैं कि देखो भैया ! जीवन में तुमने केवल भगवान का सम्बन्ध नहीं रखा है, दस सम्बन्ध तुम्हारे पहिले से थे, अब तुमने ग्यारहवाँ सम्बन्ध परमात्मा का मान लिया, तो जीवन में एक बटा ग्यारह परमात्मा की याद आएगी और दस बटा ग्यारह संसार की याद आएगी। ठीक है न? हम लोगों को क्या करना चाहिए? अगर प्रेम-तत्त्व को विकसित करना है और उसे उस प्यारे प्रभु के लिए परम पवित्र बनाना है तो आसक्ति का बोझ उसमें से निकाल देना पड़ेगा। प्रेम-तत्त्व जो है, वह तो ऐसा अलौकिक तत्त्व है कि आप कितने भी अपराध मे फँस जाइए, कितने भी पतन के गड्ढे में चले जाइए, उस अविनाशी तत्त्व का नाश नहीं होता। हमारी भूलों से वह दूषित हो जाता है। उसके दूषण को मिटा देना—बस, इतना ही अपना पुरुषार्थ है। 'वह' ज्यों का त्यों है, कभी मिटा ही नहीं, कभी मिटेगा भी नहीं। अपना सम्बन्ध रखना है—एक से, और सबके प्रति सद्भाव रखना है उस एक के नाते। तो भगवत् नाते अगर जगत् को अपना मानोगे, तो भीतर राग-द्वेष का विकार पैदा नहीं होगा। ईश्वरवाद यहाँ से आरम्भ होता है।

और हम लोग क्या करते हैं कि भगवान् का एक चित्र सामने रख लिया और विविध प्रकार की क्रियाओं से, तरह-तरह के उपायों से हम अपने को उनके प्रति प्रेमभाव को प्रकट करने के द्वारा पवित्र बनाना चाहते हैं। तो विविध सम्बन्धों का त्याग नहीं किया और सामने चित्र रख लो तो, विग्रह रख लो तो, और बहुत सामग्री जुटा लो तो, बहुत देर तक विधि-विधान से पूजा करो तो भी एक सम्बन्ध अगर जीवन में नहीं है तो वह सजीव नहीं होता है। थोड़ी देर के लिए वहाँ बैठकर पूजा करना अच्छा लगता है। थोड़ी-थोड़ी देर के बाद ध्यान में आता है कि जल्दी-जल्दी खत्म करके चलो, अब दूसरे काम हैं।

जिन सन्तों ने एक प्रभु से नाता जोड़ा—जैसे मीराजी ने कहा—'मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।' दूसरा कोई मेरा है नहीं, वे जब पूजा करने बैठते हैं और उनके प्रभु का प्रेम उनके हृदय में भरता है तो पूजा करते-करते वे अपने को भूल जाते हैं। अपने को भूल जाते हैं तो क्रिया खत्म हो जाती है और वे भाव के स्वरूप में हो करके प्रेमास्पद से जुड़ जाते हैं। देह-धर्म वहीं छूट जाता है और मैंने अपनी दशा क्या देखी है? कि पूजा करते-करते दूसरी कोई बात याद आ गई, कोई दूसरा काम याद आ गया, तो पूजा के *item* को भूल जाती हूँ। अन्तर मालूम हुआ? एक भाव में इतना रस उमड़ा कि उसमें अहं डूब गया—'मैंपन' रहा नहीं—प्यारा रहा, प्यारे का प्यार रहा, प्रीतम रहा, प्रीतम की प्रीति रही। 'मैं' खत्म हो गया! तो जिस 'मैं' के भेद की दीवार के कारण उससे हमारी दूरी मालूम होती थी वह 'अहं' जो है वह प्रेम की धातु में मिल गया।

.....

सन्त-वाणी

जिसमें आसक्ति और दोष है, वह उसी की जाति का है जिसकी उसने आसक्ति स्वीकार की है। अतः आसक्ति का अन्त कर निर्विकारता, परम शान्ति, स्वधीनता, अपरिच्छिन्नता तथा अगाध प्रियता से अभिन्न होने में ही मानव जीवन की पूर्णता है।

❖❖❖

प्रवचन 6

सत्संग-प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

संतवाणी में हम लोगों ने यह सुना कि मनुष्य के जीवन में दो प्रकार के धर्म हैं, जिनका पालन करना अनिवार्य है—एक "स्वधर्म" और दूसरा "शरीर-धर्म"। इनके पालन से व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण होता है। हम सभी के लिए यह समस्या आज अपने सामने खड़ी है कि हमारा व्यक्तिगत कल्याण कैसे हो और सुन्दर समाज का निर्माण कैसे हो ! हम स्वयं अपने भीतर भी शान्ति की आवश्यकता महसूस करते हैं और जिस जन-समाज में हम रहते हैं उसमें भी शान्ति बनी रहे, इसकी भी आवश्यकता हम लोगों को मालूम होती है।

सामाजिक प्राणी हैं हम लोग। समूह में रहते हैं, तो हमारे भीतर शान्ति बनी रहे और जिस समूह में अपने को रहना है उस समूह में भी परस्पर शान्ति, विश्वास, प्रेम बना रहे, तो जीना अच्छा लगता है। ऐसे तो भीतर की भी अशान्ति हम सब लोग सहन कर ही रहे हैं और बाहर की भी अशान्ति, संघर्ष, उपद्रव सब कुछ हम लोग सहन कर रहे हैं। तो विवश होकर के अप्रिय दशा को सहन करते रहना और ज्यों-त्यों करके जिन्दगी का भार ढोना—यह तो कोई जीना नहीं होता है।

एक ऐसी जिन्दगी भी है कि जिसमें भीतर भी अच्छा लग रहा है, बाहर भी अच्छा लग रहा है, भीतर भी शान्ति और प्रियता भरी हुई है और बाहर भी शान्ति और प्रियता भरी हुई है ? ऐसा जीना अगर मिले, तो हम सब लोग बहुत पसन्द करेंगे। ऐसा जीना हम सब लोगों के लिए सम्भव है। इसका उपाय क्या है ? हम सभी भाई-बहिनों को इस विषय में बहुत ही दृढ़ता के साथ मान लेना चाहिए के मानव-जीवन सार्थक तभी होता है, जबकि वह अपने कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माण में सफल हो

जाए। तभी वह सार्थक होता है। उसकी सार्थकता का उपाय ? तो महाराज जी बताते हैं कि शरीर-धर्म और स्वधर्म का पालन करो। धर्म किसको कहते ? कि जिसके पालन से आपका अभ्युदय हो जाए, विकास हो जाए। धर्म और किसको कहते हैं ? कि जिसको छोड़ देने से आपकी मानव संज्ञा समाप्त हो जाय, उसको धर्म कहते हैं।

अलग-अलग नाम पर अलग-अलग धर्म के जो लक्षण बताये गए हैं, वे तो किसी विशेष आवश्यकता से उत्पन्न हुए। यदि आप बाहरी मजहबी, साम्प्रदायिक मतभेदों की सीमाओं को छोड़ दें तो मनुष्य होने के नाते मानवमात्र का शरीरधर्म और स्वधर्म एक ही है, दो हो ही नहीं सकते। इस दृष्टि से हम विचार करेंगे तो आपको बहुत ही सहज रास्ता दिखाई देगा, कि कैसे हम भीतर-बाहर की शान्ति और प्रियता को सुरक्षित रख सकते हैं।

संसार में रहने का एक बड़ा भारी दायित्व हम लोगों पर आता है कि शरीर-धर्म का ईमानदारी के साथ पालन करो। क्या करो ? कि जिस संसार में, जिस समाज में, जिस देश में रहना है, उसमें निकटवर्ती जन-समुदाय के प्रति सद्भावना रखो और सहयोग दो। सद्भावना रखने का अर्थ क्या है ? कि भीतर-भीतर जैसे आपको अपना कल्याण अभीष्ट है, ऐसे ही जन समूह के प्रति यह भाव दिल में रखो, कि हे परमात्मा ! सबका भला हो ! हे भगवान् ! सबका कल्याण हो। सभी सुखी रहें ! सबका विकास हो ! यह बहुत बड़ी चीज है। इससे संसार का विकास जो होगा वह तो होगा ही, लेकिन इससे हमारे चित्त की शुद्धि हो जाएगी। जब हम सभी का भला मनाएँगे और सबके प्रति कल्याण-भावना रखेंगे तो किसी के साथ बुराई करने का कोई संकल्प अपने मन में नहीं उठेगा। अगर चित्त में कोई बुरा संकल्प न उठे तो चित्त शुद्ध है ही क्योंकि बुरे संकल्पों से ही उसमें अशुद्धि आती है, विकृति आती है, गड़बड़ हो जाती

है और दूसरे निकटवर्ती जन-समुदाय को यथा-सम्भव सहयोग देते रहिए, दूसरों के काम आते रहिए। किसी प्रकार की आशा रखकर नहीं कि इनके साथ ऐसा हम करेंगे तो ये भी हमारे साथ ऐसा करेंगे। इसमें साधना नहीं बनेगी। यह तो लेन-देन का व्यवहार हो जाएगा। जैसे भाई, किसी पड़ौसी के घर में कोई कष्ट आ गया तो हम सभी ऐसा सोचते हैं कि चलना चाहिए उसके पास, उसकी मदद करनी चाहिए। क्यों? इसलिए कि आज उस पर संकट आया है, कल हम पर भी आएगा तो यह हमारा साथ देगा। यह दुनियादारी की बात है। अच्छी बात है, बुरी बात नहीं है, लेकिन यह साधक की बात नहीं है।

शरीर-धर्म का पालन करके शरीर के बंधन से ऊपर उठने का ध्येय जिसका है वह शरीर-धर्म का पालन करेगा और सहयोग तथा सद्भावना सबके प्रति रखेगा, लेकिन उसके बदले में वह संसार से किसी वस्तु की आशा नहीं करेगा। वस्तु हो या वचन, दोनों ही प्रकार का प्रतिदान होता है। वस्तु के रूप में भी प्रतिदान होता है और कथन के रूप में भी प्रतिदान होता है। थोड़ी-थोड़ी सी बात में हम लोगों ने सीखा है—"धन्यवाद" और फिर कहते हैं "हम आपके बड़े कृतज्ञ हैं।" फिर कहते हैं कि "आप बड़े भले आदमी हैं।" यह सब "वर्बल रिवार्ड" (मौखिक पुरस्कार) कहलाता है। यह है पुरस्कार ही। तो इस प्रकार की आशा न रख करके जितना सहयोग और सद्भाव बने, हम रखें। सद्भाव में तो किसी प्रकार की कोई कमी हो ही नहीं सकती। वह तो असीम होता है। सारे संसार के सभी मनुष्यों का, सभी प्राणियों का भला मनाने में कोई अपने को असमर्थ अनुभव नहीं करेगा। और सहयोग देने में सबकी सीमाएँ हैं। अपने पास जितनी सामर्थ्य है उतनी ही सामर्थ्य को लेकर सहयोग देते रहिए, तो शरीर-धर्म का पालन हो गया।

अब आप सोचकर देखिए, कि आज हमारे सामाजिक जीवन में इतनी विषमता आ गई है कि हम एक-दूसरे पर विश्वास नहीं कर सकते; प्रेमपूर्वक दिल खोल कर बात नहीं कर सकते; अपना सुख-दुःख नहीं सुना सकते; एक-दूसरे से मदद नहीं ले सकते। हर समय शंकालु होकर घर से बाहर निकलना पड़ता है। दो-तीन दिन पहिले एक सज्जन आए थे। वे कहने लगे कि किसी काम से घर के बाहर निकलो, लौटकर आ जाओ तो भला समझो कि आ गए। नहीं तो, आजकल पता ही नहीं है कि घर से निकला हुआ आदमी सवेरे काम करने गया तो वह शाम तक कुशल से वापस पहुँचेगा कि नहीं। ऐसी दशा हो गई है। इस दशा को सामने रख कर देखिए। और सत्संग के प्रभाव से हम सभी भाई-बहिन, मनुष्य होने के नाते शरीर-धर्म का पालन आरम्भ कर दें, तो समाज की दशा सुन्दर हो जाएगी कि नहीं?

और दिल में किसी के प्रति कोई दुर्भावना पैदा ही नहीं हो, तो फिर कोई किसी के साथ बुराई नहीं कर सकेगा। और बुराई का अन्त हो गया, तो केवल भलाई ही भलाई रह जाएगी। कितना सुन्दर समाज बन जाएगा! कितनी शान्ति हो जाएगी! भीतर से अगर किसी के प्रति बुराई की भावना नहीं उठ रही है तो चित्त में कितनी शान्ति और शुद्धि आ जाएगी! तो अपने भीतर भी शांति आ गई, अपने बाहर भी शान्ति आ गई। ऐसा एक सुन्दर समाज का निर्माण करने के लिए और मनुष्य की आन्तरिक और बाहरी शान्ति को सुरक्षित रखने के लिए किसी विशेष प्रणाली की गवर्नमेंट काम नहीं कर सकती, कि किसी खास प्रकार की शासन-प्रणाली बनाएंगे तो ऐसा हो जायेगा। यह सम्भव नहीं हुआ। विदेशी शासन को हटाने में जिन लोगों ने सारी जिन्दगी तप किया और कष्ट सहन किया, वे लोग रो-रो कर दुःखी होकर यह कहते हुए प्राण त्याग कर दुनियाँ से चले गए कि क्या बतायें! हम नहीं जानते थे कि राजनैतिक स्वाधीनता के बाद भी

देशवासियों का दुःख नहीं मिटेगा। जयप्रकाश जी के मुख से मैंने सुना था। एक बार राँची में बोल रहे थे। बहुत दुःखी होकर कह रहे थे—क्या यह वही स्वाधीनता है जिसके लिए हमने अपना रक्त बहाया? तो शासन प्रणाली बदलने से, समाज के गठन को बदल डालने से सुन्दर समाज नहीं बनेगा। क्यों? क्योंकि मनुष्य सुन्दर नहीं हुआ तो समाज सुन्दर कैसे बनेगा?

सत्संग का एक प्रोग्राम ऐसा है कि जिससे एक-एक व्यक्ति एक-एक भाई, एक-एक बहन अपने को सुन्दर बना ले, तो सारा समाज सुन्दर हो सकता है। मुझे तो ऐसा लगता है कि अगर मनुष्य है और उसको प्रकृति-प्रदत्त, प्रभु-प्रदत्त कुछ विशेष शक्तियाँ मिली हैं, तो ऐसे मनुष्य को समाज में रहने का अधिकार ही तब है, जबकि वह प्रकृति के विधान को माने, शरीर-धर्म, स्वधर्म का पालन करे। जो प्रकृति के विधान को मानने के लिए तैयार नहीं है, स्वधर्म, शरीरधर्म का पालन करने को तैयार नहीं है, उसे मानव-समाज में रहने का अधिकार नहीं है। सोच लो। तो यह शरीर-धर्म हो गया। इसका कितना सम्बन्ध है आपके आध्यात्मिक विकास से? अब सोचकर देखो।

भीतर अगर किसी के प्रति सद्भावना है और किसी के प्रति दुर्भावना है, तो राग-द्वेष मिटेगा? नहीं मिटेगा। और अगर राग-द्वेष नहीं मिटेगा, तो ज्ञान का प्रकाश और प्रेम का रस कैसे बढ़ेगा? तो सत्संग का सारा प्रोग्राम फेल हो जायेगा। कहने में डरना नहीं चाहिए, घबराने की कोई बात नहीं है। यह तो हमारा-आपका अपना चित्र है, जो सामने दिखाई दे रहा है। और शरीर-धर्म और स्वधर्म का पालन करने के लिए हम तैयार नहीं हैं तो, मैं क्या बताऊँ, जिन मजहबों का, सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव संसार में मनुष्य के कल्याण के लिए हुआ, उन्हीं मजहबों और उन्हीं सम्प्रदायों के आग्रह से समाज में घोर अनर्थ हुआ। मजहब के नाम पर गैर-मजहबी

काम संसार में किसने किया? मनुष्यता को भूल जाने वालों ने किया, मानवधर्म पर विचार नहीं करने वालों ने किया, मजहब से जीवन को सुन्दर नहीं बनाया और मजहब का आग्रह लेकर समाज को दुःखी किया। यह हुआ। तो इस दृष्टि से हम लोगों के लिए विचारणीय बात यह है कि हम मनुष्य हैं और शरीर को लेकर संसार में रहते हैं और समाज के साथ मिले हुए रहते हैं। तो ऐसी दशा में हम भाई-बहनों को शरीर-धर्म के पालन पर ध्यान देना चाहिए। अगर हम इस धर्म का त्याग कर देते हैं और सबके प्रति सद्भाव नहीं रखते हैं, सबको सहयोग नहीं देते हैं, तो अपना चित्त भी शुद्ध नहीं रह सकता और समाज की शान्ति भी सुरक्षित नहीं रह सकती। एक बात हो गई।

अब दूसरी बात। महाराज जी कहते हैं कि स्वधर्म भी है तुम्हारा। चूँकि मनुष्य का व्यक्तित्व जो है उसमें एक पहलू भौतिक तत्त्व का है तो दूसरा अलौकिक तत्त्व का है। भौतिक तत्त्वों से तीनों शरीरों की रचना हुई है—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर—स्थूल जगत्, सूक्ष्म जगत् और कारण जगत्। ये सब एक ही रूप के हैं। तो, भौतिक तत्त्वों से इनकी रचना हुई है। वे भी हमारे साथ लगे हुए हैं। अब यहाँ पाँच भौतिक तत्त्वों से बना हुआ, बदलने वाला, परिवर्तनशील, मरणशील शरीर अपने पास है उसी स्थान पर व्यक्तित्व *(Personality)* में 'अहं रूपी अणु' के रूप में ज्ञान का प्रकाश और प्रेम का अलौकिक तत्त्व भी विद्यमान है। तो यह व्यक्तित्व जो मनुष्य का है, यह बड़ा ही विलक्षण मिश्रण *(Combination)* है, लौकिक और अलौकिक तत्त्वों का। ऐसा अजीब सम्मिश्रण है यह, कि इसमें अगर भौतिक तत्त्वों को प्रधानता दे दो, उनसे चिपक जाओ तो सब भौतिक लक्षण अपने पर आरोपित हो जाते हैं। और अलौकिक तत्त्वों को प्रधानता दे दो, उनकी अभिव्यक्ति का पुरुषार्थ आरम्भ कर दो, तो अलौकिक विभूतियाँ प्रकट हो जाती हैं। ऐसा विलक्षण सम्मिश्रण *(Combination)*

है यह मनुष्य का व्यक्तित्व। इस दृष्टि से केवल शरीरधर्म के पालन से जीवन का पूर्ण विकास नहीं होता। स्वधर्म का पालन भी अनिवार्य है और स्वधर्म क्या है? स्वधर्म के रूप में महाराज जी ने तीन वाक्य बताए—

अपने द्वारा ज्ञान के प्रकाश में देख कर के इस बात को स्वीकार करो कि 'दृश्य जगत् में मेरा व्यक्तिगत कुछ नहीं है, दृश्य जगत् से मुझे अपने लिए कुछ नहीं चाहिए और सर्वसमर्थ प्रभु अपने हैं।' इनमें दो बातें ज्ञान से सिद्ध हैं और एक बात विश्वास से साध्य है। ईश्वरीय विभूतियों की अभिव्यक्ति को ज्ञानसिद्ध नहीं कहा गया, विश्वास से साध्य कहा गया। अभिव्यक्ति हो जाती है, व्यक्ति के अनुभव में बात आ जाती है। तो मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए—यह ज्ञान से सिद्ध है। सर्व समर्थ प्रभु ही मेरे अपने हैं—यह विश्वास से साध्य है। ज्ञान से सिद्ध कैसे है? कि यहाँ जो कुछ दिखाई दे रहा है अर्थात् आपके लिए देखने का विषय जो बन सकता है, आपकी दृष्टि का विषय जो बन सकता है वह आपका व्यक्तिगत नहीं हो सकता, अपना नहीं हो सकता, "स्व" नहीं हो सकता। अगर 'स्व' होता, तो आपका दृश्य नहीं बन सकता था। यह दर्शन पकड़ में आ रहा है?

जिसका दृश्य बन गया, वह "स्व" नहीं हो सकता। उससे आप दूरी अनुभव कर रहे हैं। "यह" मेरा हाथ है, "यह" मेरी आँखें हैं, "यह" मेरी सामग्री है। तो "मैं" से जो भिन्न है वह दृश्य बनकर आपके सामने आता है। चाहे बाहर का दृश्य देखो, चाहे भीतर का दृश्य देखो। आँखों को बन्द करके अनेक प्रकार की धारणा करके, अनेक प्रकार की कल्पना करके, अनेक प्रकार की आसक्तियों की मुहर *(stamp)* लगाकर हम लोग भीतर-भीतर भी बहुत से दृश्य देखते हैं। लेकिन दार्शनिक सत्य को सामने रखकर विचार करिए, तो यह बात विचार से सिद्ध हो जाती है कि जो तुम्हारा दृश्य बन सकता है—भीतर अथवा बाहर—वह जीवन नहीं हो सकता।

महाराज जी ने इस दार्शनिक सत्य को बड़े जोर से स्थापित किया। कहा कि भैया ! जो तुम्हारा दृश्य बन सकता है वह जीवन नहीं बन सकता और जो तुम्हारा जीवन है उसका दृश्य नहीं बन सकता। इसलिए इस सत्य को स्वीकार करने में किसी को भी हिचक नहीं होनी चाहिए कि दृश्य-मात्र में मेरा व्यक्तिगत (निजी) कुछ नहीं है। अरे, यह मानने में कोई नुकसान नहीं होगा भाई। दृश्य जिसने बनाया उसका है। सृष्टि जिसने बनाई है, उसकी है। और जहाँ की तहाँ है, जैसी है वैसी है। मैं उसमें से किसी वस्तु को पकड़ कर अपनी करके मान लूँ, तो मेरे मान लेने से वस्तु मेरी हो नहीं जाती, लेकिन मुझको यह बड़ा भारी घाटा लगता है कि उस वस्तु की ममता में बँध जाती हूँ। मेरे मान लेने से वस्तु मेरी हो नहीं जाती। आप मानते रहे, मानते रहे, फिर भी सब कुछ हाथ में से निकल गया। निकल गया कि नहीं ? निकल गया।

शरीर में युवावस्था का आना सभी भाई-बहिनों के लिए, सभी शरीरधारियों के लिए एक अनिवार्य प्राकृतिक तथ्य है। शरीर-धारी होने के नाते युवावस्था सब प्रकार से उपयोगी है, और सभी उसको पसन्द करते हैं। सुख भोगने के लिए भी उपयोगी है, योग की साधना के लिए भी उपयोगी है, जो भी करो, सब बातों के लिए वह अवस्था उपयोगी है। उपयोगी भी है, हम लोगों का पसन्द भी है। उसको रखना भी चाहते हैं लेकिन यह कभी ठहरी है ? मुट्ठी में बाँधकर रखना चाहोगे तो भी चली जाएगी। "वह मेरी है" ऐसा कहना बुद्धिमानी नहीं मालूम होती। तो यह बात बिल्कुल ज्ञान से सिद्ध है कि दृश्य जगत् में किसी व्यक्ति का व्यक्तिगत कुछ नहीं है। फिर, जब शरीर पैदा हुआ था तब केवल एक शरीर ही था नंग-धड़ंग। उसके पास कुछ नहीं था। लेकिन आज तो उसके पास बहुत सामग्री इकट्ठी हो गई है तो इसका अर्थ क्या निकला ? इसकी क्या उपयोगिता है ? इसको क्या सार्थकता है ? इसकी सार्थकता यह है,

कि शरीर और संसार के सहयोग से जो भी कुछ अपने को प्राप्त जैसा लगता है, उसको कृपापूर्वक, अपने पर दया करके, सब कुछ जगत् की सेवा में लगाते चले जाओ, और इसे अपना नहीं मानोगे तो संसार तुम्हें छू नहीं सकेगा।

मैंने ऐसे सेवाभावी व्यक्ति को देखा है। कई वर्षों से वे समाज की सेवा कर रहे हैं। 14 वर्ष की उम्र में *Glands T.B.* हो गया। सारा गला *T.B.* की ग्लान्डस् से भर गया। ऐसा लगा कि लड़का गया। प्रभु की कृपा हो गई, ठीक हो गया। उसने कहा कि मेरी जिन्दगी तो खत्म ही हो गई थी, अब जो समय मिला है, भगवान् का दिया हुआ प्रसाद ही मालूम होता है, तो मैं सुख का भोग नहीं करूँगा। भगवान् की सृष्टि की सेवा करूँगा। तब से वे सेवा कर रहे हैं। अब तो पैंतालिस वर्ष के हो गए होंगे। महाशयजी-महाशय जी कहलाते हैं। तो उनके इस सेवाभाव से प्रभावित हो करके लाखों-लाख की सम्पत्ति, चावल, गेहूँ, आटा, गर्म कपड़े, दवाइयाँ, पुस्तकें—शरीरों के लिए और मनुष्य के जीवन के विकास के लिए—कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो समाज उनके आगे धर नहीं रहा है। बैठे रहते हैं और चारों ओर ढेरी लगी रहती है। यहाँ जमीन से लेकर छत तक अनाज की, कपड़ों की, सबकी ढेरी लगी रहती है। वह भला आदमी बैठकर खुले हाथ से आनन्दपूर्वक बाँटता रहता है, बाँटता रहता है। देने वाले आकर दे जाते हैं—महाशय जी! इसको सेवा में लगा देना और लेने वाले आकर ले जाते हैं—महाशय जी! आज हमको किताब चाहिए, आज हमको फीस चाहिए, आज हमको दवाई चाहिए, आज हमको कपड़े चाहिए, खाना चाहिए। सामान आता रहता है, वे देते रहते हैं। एक तिनका उसमें से अपने लिए नहीं छूते हैं। जब कम उम्र थी, जब घर में थे, जब उनके माता-पिता जीवित थे तो घर से खाते थे। अभी थोड़े दिन पहले उनसे मेरी भेंट हुई तो मैंने पूछा कि महाशयजी! खर्च कैसे चल रहा है?

तो कहने लगे कि पिताजी का शरीर तो अब नहीं रहा। मैंने कहा कि फिर कौन खिला रहा है? तो बोले कि पिताजी की दुकान किराये पर चल रही है उसी में से सब खर्च चल रहा है। बहुत सादा रहन-सहन है उनका। और लाखों-करोड़ों उनके सामने बरस रहे हैं और बाँट रहे हैं। तो जो कुछ सामने आ रहा है उसमें से एक तिनके को भी उन्होंने कभी अपना करके नहीं माना। इसलिए संसार उनको छूता नहीं है। कितना भी आ जाए, कितना भी कोई दे जाए, ढेरी लगी हुई है और बाँटते जा रहे हैं। मैं वहाँ उपस्थित थी तो मुझको बुलाने आए—'माताजी! आज आप चलिए, आपके हाथ से गर्म कपड़े और कम्बल हम बँटवायेंगे। सब सत्संगी लोग खड़े हैं वहाँ काम करने वाले, आ रहे हैं लोग लेने वाले। आप चलिए।' मैं बहुत हर्षित हो गई। हमने कहा—'चलो भाई, गंगाजल से गंगा-पूजन कर दूँगी मैं।' ले जाकर मुझको कुर्सी पर बिठा दिया। एक तरफ से देने वाले कपड़ा नाप-नापकर, काट-काटकर देते जा रहे हैं, दूसरी तरफ बँटता जा रहा है। बड़ा आनन्द आता है।

सच मानिए कि आप सोना, हीरा, मोती, अनाज, फूल, फल, वस्त्र—संसार की सामग्री में डूबे रहिए तब भी संसार आपको छू नहीं सकता। ऐसा नहीं है कि समाज की सेवा करने चले तो फँस गए, घुसते गए। अरे, तुम काहे को घुसोगे? घुसता हुआ दिखाई देता है शरीर। तो शरीर समाज से बाहर उठाकर कहाँ ले जाओगे? हाथ-पाँव के द्वारा दौड़कर समाज में जा रहे हो। देने वाले वस्तु दे रहे हैं तो हाथ से उठा-उठाकर लेने वाले को दे रहे हो। लेने वाले, देने वाले दोनों जो शरीरधारी हैं, यह एक-दूसरे से बिछुड़े कब थे? कि आज आपको लगता है कि मैं फँस रहा हूँ। अरे, तुम काहे को फँसोगे? और इस संसार की वस्तु में से समाज ने मुझ पर विश्वास करके सामग्री मुझे दी है, प्रकृति ने मेरी उदारता से प्रसन्न होकर के अपनी उदारता का दरवाजा चौड़ा कर दिया, बरस रहा है

मेरे सामने सामान, तो समाज की उदारता से बरस रहा है, प्रकृति की उदारता से बरस रहा है, प्रभु की कृपालुता से सामान मेरे पास आ रहा है। तो उससे मुझमें बन्धन नहीं होगा। न आने वाली वस्तु को अपना मानोगे, न दी हुई वस्तु में तुम्हारी कोई ममता होगी और न तुम्हारा कोई अभिमान होगा। बन्धन काहे का?

लेकिन मैंने भी समाज के साथ सम्बन्ध रखकर देखा है, समाज का काम करके देखा है। तो आई हुई वस्तु को अपनी मानने की भूल न करूँ मैं, इसमें तो काफी सावधानी है। लेकिन थोड़ी-सी तकलीफ हो जाती है मुझे समय-समय पर, कि जिस काम के लिए मैंने जिन्दगी लगाई, उसमें अगर कहीं त्रुटि दिखाई दे, तो भीतर-भीतर थोड़ी तकलीफ होने लगती है। ऐसा लगता है कि इतना परिश्रम मैंने किया, इतना समय मैंने लगाया, इतनी एनर्जी *(energy)* मैंने खपाई, और जिनके लिए किया उनको सूझ नहीं रहा है। वे सदुपयोग नहीं कर रहे हैं। इसका मतलब क्या है? इसका मतलब यह है कि किए हुए परिश्रम और रखी हुई सद्भावना का फल किसी न किसी रूप में देखना अपने को पसन्द आ गया। उसमें कुछ त्रुटि दिखाई दे, तो भीतर-भीतर कष्ट होने लगता है। यह भी नहीं होना चाहिए। जब मैं देखती हूँ कि उसमें दिमाग उलझ रहा है और चिन्तन बढ़ रहा है, तो मैं कहती हूँ कि हम काहे को परेशान हों। जिसकी सृष्टि, उसको मुबारक। अपने को तो थोड़ा सावधान रखने की जरूरत होती है। वस्तुओं के आ जाने से कोई आदमी नहीं फँस सकता। धन के अधक उपार्जित हो जाने से कोई लोभी नहीं बन सकता। आज्ञाकारी, सुशील, कहना मानने वाली, सेवा करने वाली सन्तान के हो जाने से कोई आसक्ति में नहीं फँस सकता। उसको अपना मानोगे, तो फँस जाओगे।

मेरी एक बहुत ही परिचित महिला हैं। बड़े ऊँचे व्यक्तित्व की स्वामिनी हैं। देश के स्वतन्त्रता-आन्दोलन में उन्होंने खूब काम किया,

समाज-सुधार का खूब काम किया है। बहुत ही विदुषी महिला हैं। उनकी दशा मैंने देखी है। एक लड़की है उनकी। उसको वे अपना मानकर बहुत पीड़ा पा रही हैं। अपना मानती हैं उसको, और जितनी इनकी गहरी आसक्ति है उस लड़की के प्रति, उतना ही ज्यादा उस लड़की में विरोध है। वह मिसेज-मिसेज करके बात करती है माँ से। माँ-माँ कभी मुँह से कहती नहीं है। उनसे कोई भी अच्छी बात कहे, सुझाव दे, सुनती नहीं है। वे अपने दुःख से दुखी हैं, लड़की के दुःख से दुःखी हैं। उस लड़की की सन्तान के दुःख से दुःखी हैं। मैंने एक दिन कहा कि माताजी ! छोड़ो, अब सयानी हो गई है, विवाह कर दिया आपने। बाल-बच्चेदार हो गई। अब रहने दो इसको, करने दो काम इसको अपने ढंग से। आप चलिए हमारे साथ, आश्रम में ले चलेंगे, आपको ठीक से रखेंगे। तो कहने लगीं—"देवकी बहन जी ! अगर मैं इसको छोड़कर चली जाऊँगी, तो यह अपने बच्चों को बहुत दुःख देगी।" तो मैं क्या बताऊँ ! जीवन के ऐसे-ऐसे विकट चित्र मेरे सामने आते हैं कि देख-देख करके एकदम हृदय में हलचल मच जाती है। हाय भगवान् ! आज्ञा मानने वाली, सेवा करने वाली, धन कमाने वाली, माता-पिता की यश-कीर्ति बढ़ाने वाली सन्तान हो और उसकी ममता में कोई फँस जाय, तो यह भी एक बात समझो। सो भी नहीं। गाली देने वाली, कटु बोलने वाली, परवाह न करने वाली, कहना न मानने वाली, सेवा न करने वाली सन्तान के पीछे इस प्रकार चिपक जाना कितनी दर्दनाक बात है !

यह मैं उदाहरण के लिए रख रही हूँ, कि आप ऐसा मत सोचिए, कि सामान मेरे पास आ गया तो मैं फँस गया, कि समाज का काम करने के लिए उसमें घुस गया तो फँस गया। सो सब कुछ नहीं। अगर इसमें से किसी भी वस्तु को मैं अपना मानूँ, तो मेरी इस भूल से मैं फँसती हूँ और संसार तो जहाँ है, वहाँ है। जैसा है, वैसा है। जिसका है, उसका है

और उसने जो विधान बना दिया उसी पर चल रहा है। तुम ममता में फँस गए तो अपने अविनाशी आनन्द से वंचित हो जाओ। तुम ममता से मुक्त हो जाओ तो तुम भी आनन्द मनाओ, सृष्टि भी आनन्द मनाए, सृष्टिकर्त्ता भी आनन्द मनाए। दु:ख का कहीं लेश ही नहीं है, नाम ही नहीं है।

इसलिए महाराज जी ने स्वधर्म पालने में पहली सलाह हम लोगों को दी कि भाई! इस सत्य को तुम स्वीकार करो। ज्ञानपूर्वक यह सत्य तुम्हारे जीवन में सिद्ध है कि दृश्य जगत् में कोई भी चीज मेरी व्यक्तिगत नहीं है। न कोई वस्तु हमारी व्यक्तिगत हो सकती है और न हमें अपने लिए किसी वस्तु की आवश्यकता है। जब शरीर को अपना मानो, तब बहुत सी वस्तुओं की जरूरत अपने को पड़ती है। शरीर भी तो एक वस्तु ही है। यह भी तो जगत् की एक रचना ही है। यह भी तो एक दृश्य है। तो इसको अपना करके हम नहीं मानेंगे और ऐसे मानेंगे कि अपने को इसकी जरूरत नहीं है, तो फिर किसी चीज की जरूर नहीं रहेगी। ममता भी चली जाएगी। कामना भी चली जाएगी। चित्त की शुद्धि हो जाएगी। आध्यात्मिक विकास हो जाएगा और फिर अपने द्वारा आस्था, श्रद्धा, विश्वास के आधार पर परम प्रेमास्पद प्रेमस्वरूप प्रभु को अपना मानो तो इस सत्य की स्वीकृति से अपने जीवन में ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति होती है। कौनसा रूप बनाकर आयेंगे, कैसे आपको रिझायेंगे—यह तो "वे" जानें और आपकी भावना जानें। लेकिन मैं जो जानती हूँ वह यह बात है कि जिस दिन से कोई भी मनुष्य अपने हृदय के भाव पक्ष को उस भाव-ग्राहक के प्रति जोड़ देता है, अपने हृदय के प्रेम भाव को उस प्रेमस्वरूप के प्रति अर्पित कर देता है, उसी क्षण से उसके अहं रूपी अणु में ईश्वरत्व विकसित होने लगता है। उसके अन्तर की वह दृष्टि खुल जाती है कि जिस दृष्टि में सृष्टि लुप्त हो जाती है। वह जब भाव भरी दृष्टि से देखना आरम्भ करता है तो उसके भाव का आदर करने के लिए वे

परम प्रेमास्पद, वे बहुरूपिये दृश्य-जगत को छिपा करके अपने प्रेमास्पद रूप में प्रकट हो जाते हैं। तो भक्त कहने लगता है कि—

"जित देखूँ तित श्याममयी है, जित देखूं तित श्याममयी है।" क्या हो गया? लौकिक स्तर से वह स्वयं ऊँचा उठ गया। क्या हो गया? तो अशरीरी, अलौकिक अस्तित्व में उसको चारों ओर अपना प्रेमास्पद ही दिख रहा है। और कोई है ही नहीं। और कोई हो सकता नहीं। प्रेमास्पद हैं और उनका प्रेम है। प्रेमास्पद हैं और उनका प्रेम है। तो प्रीति भरी दृष्टि जब पड़ती है तो उसके रस में अवगाहन के लिए वे परमात्मा ही प्रेमास्पद के रूप में प्रकट हो जाते हैं। और जित देखूँ तित तू ही तू, जित देखूं तित श्याममयी है। आकाश में नीले-नीले सजल बादल आ रहे हैं तो घनश्याम का दर्शन हो रहा है। वृक्ष के पत्ते डोल रहे हैं तो घनश्याम की ताली बज रही है। वन के पक्षी बोल रहे हैं तो घनश्याम की वंशी बज रही है। धरती पर जमुना का नीला जल बह रहा है तो घनश्याम की याद आ रही है। तो जित देखूँ तित तू ही तू। न दृष्टि रही, न सृष्टि रही। न भेद रहा, न दूरी रही, न भिन्नता रही। यह अनमोल अनुभव, जिसकी तुलना संसार में कभी किसी से हो ही नहीं सकती, यह अनुभव हम सभी भाई-बहिनों को हो सकता है। कब? शरीर-धर्म और स्वधर्म का पालन करो तब। तो अब सोचकर बताइये मुझे कि शरीर-धर्म और स्वधर्म के पालन करने में कुछ अधिक खर्च की जरूरत है? नहीं है। भूखे-नंगे रहने की जरूरत है? समाज छोड़कर भागने की जरूरत है? हम जहाँ हैं, और जैसे हैं उसी दशा में उसी जगह पर रहते हुए, आज ही शरीर-धर्म और स्वधर्म का पालन आरम्भ कर सकते हैं। और, आज से ही उसके विलक्षण अनुभव को पाकर सदा-सदा के लिए निश्चिन्त और निर्भय हो सकते हैं।

▪▪▪▪▪▪

प्रवचन 7

उपस्थित महानुभाव, सत्संग-प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

मानव का एक नाम साधक है, जो मानव है, वह साधक है। जो साधक है उसके जीवन में साधन का निर्माण आवश्यक है क्योंकि साधन-निर्माण से साधक का जीवन साधन-तत्त्व से अभिन्न होता है और साधन-तत्त्व से अभिन्न होकर ही वह साध्य को पाता है। इस दृष्टि से हम सभी भाई-बहनों के जीवन में साधन-निर्माण का प्रोग्राम सबसे पहला प्रोग्राम होना चाहिए। सबसे पहले साधन का निर्माण हो।

आपने बहुत सत्संग सुना है और बहुत बार ऐसा भी सुना होगा कि साधन करो, साधन करो। साधन करने की बात नहीं होती है। करने की बात होती है—क्रियात्मक सेवा करने का पुरुषार्थ 'स्व' के द्वारा सत्य की स्वीकृति। करने का पुरुषार्थ होता है—अपने जाने हुए असत् के संग का त्याग। तो जाने हुए असत् के संग का त्याग करना होता है, जीवन के सत्य को स्वीकार करना होता है। सत्य की स्वीकृति से और असत् के संग के त्याग से मनुष्य के व्यक्तित्व में से जब असाधनों का नाश होता है और साधन का निर्माण होता है तब असाधन के नाश होने पर अपने आप साधक का जीवन साधनमय हो जाता है। तब अपने आप ध्यान लगने लगता है, भजन होने लगता है। तो भजन करने वाली क्रिया नहीं है, यह होने वाली साधना है।

आज 'सन्तवाणी' में भजन का अर्थ हम लोगों ने सुना। आप बहुत से भाई-बहिन भी भजन को जीवन में स्थान देते होंगे। पूरा स्थान इसको भले न दें अर्थात् सम्पूर्ण जीवन भजन बन जाए— इस प्रकार का पुरुषार्थ आपने भले न किया हो, लेकिन 24 घण्टों में से कुछ घण्टों का समय हम भजन में लगायेंगे—ऐसा नियम हम लोगों में से बहुत से भाई-बहिनों का होगा। थोड़ी देर के लिए भजन हो और शेष समय के लिए जीवन में से

भजन निकल जाय, तो आप सोच सकते हैं कि उस भजन से सफलता नहीं मिल सकती। हम लोगों में से बहुतों का अपना यह अनुभव है कि सफलता नहीं मिली है, समस्याओं का समाधान नहीं हुआ है। भगवत् अनुराग से जीवन भरपूर नहीं हुआ है। अगर ऐसा नहीं हुआ है, और हम लोगों को भजन वाली साधना पसन्द है, तो उसमें जो त्रुटि है उसे निकाल कर दूर कर देना हमारा पुरुषार्थ है। त्रुटि क्या रह गई?

पहली बात महाराज जी कह रहे हैं—कि भाई! भजन शरीर-धर्म नहीं है कि शरीर लगाओगे तो भजन बनेगा। गाओगे—शरीर की सहायता लेकर तो वह भजन होगा, कि बजाओगे—शरीर की सहायता लेकर, कि नृत्य करोगे—शरीर की सहायता लेकर—तो उसका नाम भजन होगा। स्वामी जी महाराज ऐसा नहीं बताते। उनका कहना है कि जो काम हाथ-पाँव से किया जा सकता है, मुख से बोलकर जो कुछ किया जा सकता है अर्थात् शरीरों की सहायता से जो कुछ किया जा सकता है वह तो यन्त्रों की सहायता से भी हो सकता है। फिर तो भजन का फल यन्त्र को भी मिलना चाहिए। उसको क्या फल हो सकता है, जिसमें चेतना नहीं है, जिसमें हृदय-शीलता नहीं है, जिसमें प्रेम के आदान-प्रदान की सामर्थ्य नहीं है, उससे भजन का क्या अर्थ निकलेगा? क्या सार्थकता होगी? इसलिए जो ईश्वर-विश्वासी जन हैं, और आस्तिकवाद की दृष्टि से जिन्होंने साधना का आरम्भ किया है, उन सभी भाई-बहिनों की सहायता के लिए महाराज जी मौलिक बात हम लोगों के सामने रख रहे हैं कि भाई! विचार करके देखिए, भजन शरीर-धर्म नहीं है। भजन तो जीवन है, भजन स्वधर्म है। जब कभी आपके भीतर भजन का संकल्प उठता है—कि अब तो हम थोड़ी देर बैठेंगे, अब तो हम कुछ देर भजन करेंगे—तो भजन की साधना के पीछे वह अनन्त परमात्मा अवश्य आपकी दृष्टि में रहता है। भजन करेंगे, तो किसका करेंगे? कोई आपका प्रिय है, कोई आपका इष्ट है, कोई

आपका आदर्श है, कोई आपके जीवन का आधार है—तो पहले वह होता है आपकी दृष्टि में, तब उसकी प्रसन्नता के लिए पीछे से भजन की बात आती है।

अगर कोई भगवान् को ही न माने, अथवा मान करके भी पसन्द न करे, तो उसके जीवन में भजन की बात पैदा होगी? नहीं होगी। तब देखो, कि भजन की प्रधानता है कि जिसका भजन आप पसन्द करते हैं, उसकी प्रधानता है? जिसका भजन हम लोग करना चाहते हैं उसकी प्रधानता है न! और भजन से क्या होता है भाई? तो भजनानन्दी भजन को इसलिए पसन्द करते हैं कि उस भजन से परमात्मा को आनन्द आता है। उसको प्रसन्न करने के लिए भजन का प्रश्न उठता है, साधक के जीवन में। इस दृष्टि से बहुत शान्ति-पूर्वक आप अपने भीतर खोज-ढूँढकर के देखिएगा। तो महाराज जी जो कह रहे हैं वह बिल्कुल सार्वभौम सत्य है। संसार के सभी प्रकार के ईश्वरवादी-हिन्दू भी ईश्वरवादी हैं, मुसलमान भी ईश्वरवादी हैं, ईसाई भी ईश्वरवादी हैं और भी ईश्वरवादी होंगे जिनको कि हम लोग जानते नहीं हैं—तो संसार भरके जितने भी ईश्वरवादी मनुष्य हैं, जो ईश्वर को मानने वाले हैं, जिनके जीवन में भजन का प्रश्न है, सब के लिए यह सर्वमान्य सत्य है कि भाई, भजन किया नहीं जाता, भजन होता है।

भजन शरीर-धर्म नहीं है, भजन "स्वधर्म" है। भजन के सम्बन्ध में पहली बात जो हम लोगों को याद रखनी चाहिए वह यह कि भजन "स्वधर्म" है, शरीर-धर्म नहीं है। अब किसी भाई-बहिन के सामने भगवत् भक्तों का चरित्र आ सकता है, जैसे नरसी मेहता का नाम सुना है हम लोगों ने। बड़ा नृत्य करते थे। जैसे भक्तिमती मीरा का नाम सुना है हम लोगों ने। ऐसे ओर भी संत हो गये, भक्त हो गए जिन्होंने खूब गाया, खूब नृत्य किया। ऐसा मत सोचना कि नृत्य और संगीत उनके भजन का आधार था। ऐसा नहीं था। मीराजी ने पहले परमात्मा से नित्य सम्बन्ध

स्वीकार किया, फिर सारे सम्बन्धों को उस एक सम्बन्ध में विलीन किया, फिर अपने 'स्व' को उस परमात्मा के समर्पित किया।

जिसने एक परमात्मा को अपना प्रिय करके माना और उसी के प्रति सारे सम्बन्ध समर्पित कर दिए, उसके जीवन में उस परमात्मा की याद स्वाभाविक हो जाती है, सहज हो जाती है। उसकी याद करनी नहीं पड़ती है, याद आने लगती है। तो परमात्मा के साथ अपना नित्य सम्बन्ध है—इस बात को मान लेने से परमात्मा की याद आती है। फिर आगे उन्होंने क्या किया? तो मीराजी ने आगे चल कर अपने सब संकल्प प्रभु के संकल्प में मिला करके छोड़ दिये। समय-समय पर उनके मुख से जो शब्द निकले उन शब्दों से यह बात प्रकट होती है। एक पद में उन्होंने कहा—'जित बैठावे तित ही बैठूँ, जो देवे सो खाऊँ', जा रंग राँचे आप साँवरिया ताही में रंग जाऊँ।" सर्वस्व समर्पण हो गया न! अपना करके कोई संकल्प नहीं है। जहाँ बैठाओ वहाँ बैठूं जो दो सो खाऊँ। आगे इस पद में यह भी पंक्ति आई है—'बेचे तो बिक जाऊँ, जा रंग राँचे आप साँवरिया ताही में रंग जाऊँ।' अब यह उनका सर्व संकल्पों का त्याग, भगवत्-संकल्प पर अपने को न्योछावर कर देना, 'जनम-जनम की मीरा दासी, तुम बिन मेरो और न कोऊ, कृपा रावरी कीजै' 'ऐसे अच्छे-अच्छे शब्द हैं। ऐसी अच्छी अभिव्यक्तियाँ हैं कि जिनसे साधना के पथ पर चलने वाले जो ईश्वर-विश्वासी साधक हैं, उनकी पता चलता है कि सचमुच जिन्होंने ईश्वर का भजन किया, उनके मूल में क्या बातें थीं।

उनके मूल में पहली बात थी—परमात्मा के साथ आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति। दूसरी बात थी अपने सहित सब कुछ उन्हें समर्पित कर देना और, तीसरी बात थी उनकी प्रसन्नता पर अपने को छोड़ देना। उनकी प्रसन्नता के लिए अपने को छोड़ देना—यह भजन का आधार है। जो अपनी प्रसन्नता के लिए परमात्मा को मानता है, वह भजन नहीं कर सकता।

अपनी खुशी के लिए जो परमात्मा को मानेगा, वह भजन नहीं कर सकता। वह तो अपनी कामनाओं को विविध रूप से सुन्दर-सुन्दर ढंग से परमात्मा के सामने प्रकट करता रहेगा। उसके द्वारा भजन नहीं होता है। तो भजन होता है किसके द्वारा? जिसको परमात्मा की प्रसन्नता के अतिरिक्त अपने लिए कुछ नहीं चाहिए, उसके द्वारा भजन होता है। मेरा कुछ नहीं है, सब कुछ तुम्हारा है और तुम्हारा मुझ पर सब प्रकार का अधिकार है—'जित बैठाओ तित ही बैठूँ, इसका अर्थ क्या है? कि मुझ पर तुम्हारा अधिकार है।' 'सजन सुध ज्यों जानो त्यों लीजे। तुम बिन मेरो और न कोऊ कृपा रावरी कीजै, तुम्हारे बिना और कोई मेरा है नहीं और तुम जैसे चाहो वैसे रखो हमें। जैसे तुमको पसन्द आये वैसे मेरी सुधि लो। तो ऐसा एक सर्वस्व-समर्पण का भाव पहले आता है। साधक अपनी सब कामनाओं, सब वासनाओं का त्याग करके केवल प्रभु की प्रसन्नता के लिए अपने को उनके समर्पित कर देता है। अपने पर उनका पूरा अधिकार मान लेता है। इस सत्य की स्वीकृति से उसके जीवन में परमात्मा के प्रति जो प्रियता उपजती है, उसका नाम 'भजन' है।

तो पहले सत्संग हुआ, अर्थात् सत्य की स्वीकृति हुई। फिर क्या हुआ? उस सत्य की स्वीकृति से सब असत् का संग छूट गया। सब असाधनों का नाश हो गया, फिर क्या हुआ? कि उस प्यारे की, उस शरण्य की, उस जीवन के आधार की याद आने लगी। तो जैसे-जैसे उनकी याद आती है, वैसे-वैसे उस याद को प्रकाशित करने के लिए विविध प्रकार के शब्द बनते जाते हैं, पद बनते जाते हैं, नृत्य होता जाता है, बाजा बजता जाता है। तो प्रधानता भजन में भाव की है। भजन में प्रधानता प्रियता की है। भजन में प्रधानता प्रभु की प्रसन्नता की है। तो प्रभु की प्रसन्नता—यह भक्त के जीवन का आधार बन जाता है और उनकी प्रियता के कारण रह-रह कर उनकी याद आती रहती है।

मैंने एक बड़ा ही विलक्षण रहस्य सुना है स्वामीजी महाराज़ के मुख से, और थोड़ा बहुत कुछ अंशों में अनुभव करके देखा है। बड़ी विचित्र बात है, कि मनुष्य का नित्य सम्बन्ध और स्वाभाविक आकर्षण परमात्मा की ओर है। स्वाभाविक आकर्षण, क्योंकि वहीं जाकर उसको विराम मिलता है। उसी से जुट जाने का उसका जो अपना निर्णय है, इसी में उसको निश्चिन्तता मिलती है। तो फँसे रहते हैं हम दृश्य-जगत् के साथ और भीतर-भीतर आकर्षण जो है, वह हमको परमात्मा की ओर खींचता रहता है। जब अपने द्वारा स्वेच्छा से किसी ने निश्चय किया कि मेरा तो परमात्मा से ही नित्य सम्बन्ध है और मेरे पास जो कुछ है, इस सबके सहित—यह जीवन परमात्मा को समर्पित है और उसकी प्रसन्नता मेरे जीवन का आधार है—ऐसा जिसने निश्चय किया कि उसके भीतर अपने आप प्रभु की याद आने लगती है। और वह याद इतनी जोरदार होती है और इतनी मीठी होती है और सब प्रकार के अभाव को पूरा करने वाली होती है, कि उससे संसार की विस्मृति हो जाती है।

लेकिन हमारी क्या दशा है? सब बातों में ईश्वरवादी होकर के भी तर्क का पक्ष हम छोड़ नहीं सके। एक दिन मैं बैठे बैठे सोच रही थी, कि ऐसा कैसे होता है? स्वामीजी महाराज कहने लगे कि अरे भाई! तुम एक बार झूठ-मूठ को भी कह तो दो कि हे प्रभु! मैं तेरा! तुम्हारी झूठी बात को भी सच्ची करने के लिए वे इतने तत्पर रहते हैं, कि देवकी जी! वे पकड़ लेंगे तो फिर तुम छुड़ाना चाहो तो नहीं छोड़ेंगे। और उदाहरण देकर कहने लगे कि हाथी को गन्ना बहुत पसन्द है। मीठा रस होता है न! तो हाथी उसको खाता है बहुत शौक से। तो कहने लगे हाथी को गन्ना पकड़ा देना आसान है, लेकिन पकड़ा देने के बाद उसके मुख में से निकालना सम्भव नहीं है। बड़ा बलवान पशु है और उसको बहुत पसन्द है गन्ना और इतना बड़ा मुँह खोलकर उसने एक बार गन्ने को लिया चबाने के

लिए, उसका मीठा रस चखने के लिए, तो तुम्हारी हिम्मत है, कि उसके मुख से गन्ना निकाल लो ? तो ऐसे ही होता है।

मनुष्य अपनी ओर से अनेक प्रकार के असाधनों की विकृति को लेकर के, जन्म-जन्मान्तर के लोभ, मोह, काम, क्रोध का परिणाम लेकर के थका हुआ, भवताप से तपा हुआ, दुनियाँ की प्रतिकूलताओं से जर्जर होकर के याद करता है—हे सर्वसमर्थ ! मैं तुम्हारी शरण हूँ। हे दीनबन्धु ! अब मुझे सम्हालो। हे पतित-पावन ! मैं तुम्हारी शरण हूँ ! तो जैसा भी जिसको अच्छा लगता है—वह पुकारता है। देखिए, उसके भीतर जो प्रभु की याद आई, तो वह याद बहुत ही दुर्बल होती है, क्षीण होती है, संसार के चिन्तन से दूषित होती है, अनेक प्रकार के विकारों से घिर जाने से कमजोर होती है। तो मनुष्य की ओर से जो भाव उठता है, जो स्मृति जगती है, प्यारे की जो याद आती है, वह तो बहुत ही कमजोर और दुर्बल होती है शुरू में। लेकिन एक बार अगर आपके अन्दर यह बात आई तो मुख से कहो, चाहे मत कहो, खाली अन्तर में अपने हारे हुए क्षणों में आपने याद किया, कि हे समर्थ, "हे करुणासागर ! मैंने अपने को बर्बाद किया, अब आप मेरी रक्षा करें। अब आपकी कृपा हो जाये तो मेरा कल्याण हो जाये।" भीतर में यह आवश्यकता आपकी उत्पन्न हुई नहीं कि परमात्मा जल्दी से पकड़ लेते हैं, कि कहीं यह फिर भटक न जाए छूट न जाए। एक बार भी भीतर से कराह निकली कि वे करुणासागर पकड़ लेते हैं।

स्वामी जी महाराज के पास विविध प्रकार के साधक लोग आते और अपने भीतर जो भरा हुआ होता सो निकालते। आपस में एक-दूसरे से असंतुष्ट होकर वे और छोटी-मोटी बातों की चर्चा स्वामी जी महाराज के पास करने लग जाते। तो मैं भीतर-भीतर बहुत छटपटाती कि अरे ! ऐसे ब्रह्मनिष्ठ संत के पास बैठ करके छोटे-छोटे लड़ाई झगड़े में ये लोग समय खराब कर रहे हैं। क्यों नहीं अच्छी-अच्छी बात जल्दी-जल्दी पूछ

लेते ? मैं शिकायत करती कि स्वामी जी महाराज ! ऐसे लोगों को आप क्यों बैठने देते हैं अपने पास ? समय खराब करते हैं ये लोग । तो एकदम से उनके मुख से वाणी निकलती कि 'देवकी जी ! हम लोग पकड़ करके छोड़ना नहीं जानते हैं । बहुत बड़ा आश्वासन है इसमें । पकड़ करके छोड़ना नहीं जानते हैं । अरे भाई, जो बहुत बीमार है, उसी को तो सेवा की ज्यादा जरूरत है ।

एक बार दो सज्जन आए । मुझको तो कुछ पता नहीं था कि कौन लोग हैं, कहाँ से आए हैं । ट्रेन में फर्स्ट क्लास में स्वामी जी महाराज के साथ मैं बैठी थी, और भी लोग बैठे थे । चर्चा चल रही थी । दो जने आए तो पूरा कम्पार्टमेंट अजीब तरह की दुर्गन्ध से भर गया । वह शराब की दुर्गन्ध थी सो तो मैं पहचानती भी नहीं थी, लेकिन हमारा जी घबराया भीतर से । जब वे लोग चले गए तो हमनें महाराज जी से पूछा कि महाराज ! कैसा लग रहा है ? सारा कम्पार्टमेंट कैसी दुर्गन्ध से भर गया । कहा कि आप ऐसा करते हैं, ऐसे बैठा लेते हैं गोदी में फिर सूँघते हैं—तो कहने लगे देवकी जी ! जो बहुत बीमार है उसी को बहुत सेवा चाहिए । जो बहुत भटका हुआ है उसकी ओर ध्यान देना पड़ेगा । तो संत और भगवन्त ऐसा कृपा करने वाले होते हैं । उनकी जो पकड़ होती है वह बहुत जोरदार होती है । उनकी ओर से हमारे लिए जो आकर्षण है, वह हमारी भावना से असंख्य गुणा अधिक जोरदार है । ऐसा आप अपने द्वारा अनुभव करके देखेंगे । इसलिए भजन तो ईश्वर-विश्वासी के जीवन में आरम्भ हो जाता है उसी क्षण में, जिस क्षण में उसने महामहिम प्रभु की शरणागति को स्वीकार किया, उनको अपना माना और सब सम्बन्ध, सब विश्वास उसमें विलीन कर दिए । भजन तो आरम्भ हो गया उसी समय । लेकिन जो प्रभु के नित्य-सम्बन्ध की स्वीकृति से भजन आरम्भ हुआ वह भजन कभी खत्म नहीं होता है । कब तक चलता है ? जब तक कि साधक को प्रेम की धातु

में परिवर्तित करके उसके "अहं" को उस प्रेमस्वरूप में विलीन नहीं करा देता, तब तक वह भजन कभी रुकता नहीं है। इसलिए वह शरीर धर्म हो ही नहीं सकता।

शरीरों के माध्यम से जो भजन हम लोग आरम्भ करते हैं, वह अखण्ड नहीं रहता है। एक घण्टे का प्रोग्राम बनाओ, चाहे 24 घण्टों के अखण्ड कीर्तन का प्रोग्राम बनाओ। जिस साल बहुत हल्ला हुआ था कि नवग्रह इकट्ठे हो गए हैं आकाश में, और धरती पर बड़ा भारी अनर्थ होगा, उस साल पूरे वर्ष भर के लिए अखण्ड कीर्तन का प्रोग्राम लोगों ने किया था। वह भी खत्म हो गया। तो भजन ऐसा नहीं है जो आरम्भ हो जाय और खत्म हो जाय। वह खत्म नहीं होता है। जिन्होंने नित्यसम्बन्ध की स्वीकृति से साधन का निर्माण किया है अर्थात् जिनको भीतर अपने शरण्य की, अपने प्यारे की स्मृति जाग्रत हो गई, उनका भजन आरम्भ हो गया और उस स्मृति में प्रियता बढ़ती चली गई, तो भजन सजीव होता चला गया। तो उनका जीवन कैसा होता है?

महाराज जी ने उदाहरण दिया और यह बताया कि देखो, भजन है—प्रियता। प्रियता जो होती है, और परमात्मा के प्रति जो प्रियता होती है, वह उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती है। वह प्रियता घटती नहीं है, क्योंकि उसमें भोग-प्रवृत्ति शामिल नहीं है। तो जहाँ भोग-प्रवृत्ति होती है, वहाँ प्रियता घटती जाती है। और जहाँ केवल शुद्ध प्रेम का ही प्रश्न है, किसी प्रकार का भोग उसमें शामिल नहीं है, तो वहाँ प्रियता बढ़ती चली जाती है।

यदि आपके भीतर प्यास बढ़ रही है—कि प्यारे से कब मिलेंगे! उनको कैसा-कैसा अच्छा लगेगा? उनको, क्या-क्या प्रिय लगेगा? तो आपकी ओर से प्यास बढ़ रही है और उनकी ओर से "बरस" रही है। उधर से जब हमारे प्रति आकर्षण बरसने लगता है, बढ़ने लगता है, तो

साधक को संसार की बातों से कोई बाधा नहीं पड़ती है। किसी प्रकार का चिन्तन उसको सताता नहीं है। प्रियता का रस उसके जीवन के अभाव को भरने लगता है। रस की वृद्धि होती चली जाती है। सत्य का जो सम्बन्ध है, वह सत्य है। अविनाशी का जो प्रेम है, वह अविनाशी है और नित्य विद्यमान की जो प्रियता है वह तत्काल की प्राप्ति है। तो जैसे-जैसे प्रेम बढ़ता गया अपने आप ही में विद्यमान अपना इष्ट अपने लिए प्रकट होता गया। जहाँ उसकी प्रियता आई, जीवन की नीरसता का नाश हो गया और जहाँ रस की वृद्धि हुई, तो वे रसिक स्वयं विद्यमान हो गए और जब उनके साथ अपना इतना डाइरेक्ट (सीधा) सजीव सम्बन्ध जुड़ गया तो सोचकर देखो भला कि उस अनन्त रस सागर के भीतर हमारे इतने से छोटे से नन्हे से प्रेम रस के भाव का कहीं कुछ पता चल सकता है? जी? नहीं चल सकता है तो क्या हो जाता है?

संत कहते हैं—'गई पूतली लौन की, थाह समन्द की लेन, आपन मिली पानी भई उलट कहे को बैन।' कौन कहे, क्या हो गया? तो मेरा जो एक सीमित अहंभाव है जिसके आधार पर मैं आपके सामने बैठ कर बातें कर रही हूँ। उससे ऐसा लग रहा है कि मुझ में ईश्वर-विश्वास भी है और मुझ में ईश्वरीय प्रेम का चाव भी है। इस रूप में मेरे जीवन में भजन भी है और भजन में रस की निरन्तर वृद्धि हो रही है। अभी अपने को पता चल रहा है कि इस जीवन में भजन है और भजन के द्वारा रस की वृद्धि हो रही है, तो इसका मतलब यह है कि अभी इस का मेजरमेंट चल रहा है। समझ में आता है? पता चल रहा है? लेकिन वह रस इतना मधुर होता है और सब प्रकार से भरपूर करने वाला होता है कि उसकी जब बहुत अधिक वृद्धि हो जाती है तो मैं हूँ—यह सीमित अहंभाव प्रेम की धातु में परिवर्तित हो कर के प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाता है। वहाँ जा कर भजन की पूर्णता होती है।

ऐसा भजन हम सभी भाई-बहिनों के जीवन में, ईश्वर-विश्वासी साधकों के जीवन में होना अनिवार्य है। अब आज की सोचिए। आज ही से हम लोगों को यात्रा आरम्भ करनी पड़ेगी। आज अपनी दशा कैसी है? आज अपनी दशा ऐसी है, कि ईश्वर भी पसन्द है, ईश्वर का प्रेम भी पसन्द है और भजन भी पसन्द है और उसके साथ-साथ बहुत से दूसरे जरूरी काम हैं, उनको भी करना है। तो कैसे करें? महाराज जी आरम्भ करने वाले साधकों की सहायता के लिए बताते हैं कि भाई पहला काम तो यह करो कि तुम्हें अपने पास जो कुछ भी दिखाई देता है "सब परमात्मा का है, सब परमात्मा का है, सब परमात्मा का है"—ऐसा मान लो। अगर हम परमात्मा की मान लेंगे तो सब सामग्री परमात्मा उठा कर ले जायेंगे? चाहिए उनको? नहीं चाहिए। उनको क्या चाहिए? मैंने तो भगवत् अनुरागी भक्त के जीवन में देखा कि किसी सामग्री को छूते हुए, उठाते हुए, रखते हुए ऐसा अनुराग बरसता था उसके जीवन से कि मैं क्या बताऊँ। हमारे जैसे स्थूल दृष्टि रखने वाले साधकों को तो वे इस प्रकार समझाते थे, कि देखो देवकी जी! यह सब प्यारे का है यह सब प्यारे का है, यह सब प्यारे का है। तो सब प्यारे का है—ऐसा कह करके तो हमको समझाते और खुद जब छूते वस्तुओं को, उठाते, रखते तो उनको क्या दिखाई देता! कि सब-प्यारे ही हैं, प्यारे ही हैं। दूसरा कोई है ही नहीं। दूसरा कुछ हुआ ही नहीं। वही एक अलख, अगोचर, अदृश्य, अनन्त, अव्यक्त परमात्मा विविध रूपों में व्यक्त हुआ है। तो सब नहीं हैं, वे ही हैं। सब कुछ नहीं है, वह अकेला ही है। तो 'जित देखूँ तित तू ही तू'—यह बात उनके जीवन में इतनी जोरदार थी कि छोटी-छोटी वस्तुओं के साथ भी, व्यवहार करने में वह प्रेम रस बरसता रहता था, टपकता रहता था और हृदय प्रेम से उमड़ता रहता था। हम लोगों के लिए क्या बात है?

हम लोगों के व्यक्तिव में जगत् की जड़ता का प्रभाव कुछ शेष है, तो हमें वस्तु दिखाई देती है। वस्तु दिखाई देती है—इस दशा को हम लोगों को स्वीकार करना चाहिए। अपने साथ जबरदस्ती नहीं करनी चाहिए कि वस्तु नहीं दिखाई देती है। और हमें नकल नहीं करनी चाहिए कि जैसे अनुरागी भक्तों को प्रभु दिखाई देते हैं, वैसे हम भी उनकी नकल करें कि हमको प्रभु दिखाई दे रहे हैं। सो नहीं करना चाहिए। ऐसा करेंगे, तो आगे प्रगति नहीं होगी। वस्तु दिखाई देती है तो स्वीकार करो, कि वस्तु दिखाई देती है, लेकिन इसके साथ यह मानो कि ये जो दिखाई देनी वाली वस्तुएँ हैं—चूँकि सारी सृष्टि का मालिक परमात्मा है, इसलिए इसका भी मालिक परमात्मा है, इसका भी मालिक परमात्मा है, इसका भी मालिक परमात्मा है। सब का मालिक परमात्मा है—ऐसा हम लोग इस वर्तमान क्षण में स्वीकार कर सकते हैं। ऐसा करने का फल क्या होगा?

आपको कुछ परिश्रम नहीं करना पड़ेगा, किसी के पास पूछने नहीं जाना पड़ेगा। अपने आप देखकर सचाई के साथ एक बार इस सत्य को स्वीकार कर ही लो कि सारी सृष्टि का मालिक परमात्मा है। इसलिए मेरे पास एक सुई भी रखी है, तो वह भी मेरी नहीं हो सकती। उसकी मालिक मैं नहीं हो सकती हूँ। वह सुई भी सृष्टि के अन्तर्गत है, इसलिए उसका भी मालिक परमात्मा ही है। ऐसा मान लो और मानने में कोई घाटा नहीं है। अगर आप कोई वस्तु ले आवें और ला के मेरे पास रखें और कहें कि माताजी! यह वस्तु आपकी है, आपको मैं दे रहा हूँ। तो माताजी के पास अभाव है, तो उस वस्तु को ले लेंगी। पूर्ण परमात्मा को तुम सब कुछ सौंपो, तो जितना तुम उनको कह दो कि यह तुम्हारा, यह तुम्हारा-उससे सहस्त्र गुणा अधिक वे और बरसा देंगे तुम पर खुश होकर। वे ले नहीं जावेंगे। तुम्हारा घटेगा नहीं कुछ। उनके पास अभाव नहीं है। उनको वस्तुओं की जरूरत नहीं है। उन्होंने वस्तुओं की रचना तुम्हारे लिए की

है। कोई डर नहीं है। शंका मत करना, कि सब उनको दे दिया और वे ले गए, तो कल से हमारा काम कैसे चलेगा? सो नहीं डरना। ऐसी बात नहीं होती है। उनको तुम्हारे हृदय के प्रेम भाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए। भाई! कुछ नहीं चाहिए उनको।

महाराज जी ने कहा कि देखो, यह भ्रम मत रखना कि संसार के लोगों से मिलेंगे-जुलेंगे तो परमात्मा को भूल जायेंगे, कि संसार की वस्तुओं को सम्हालेंगे, तो परमात्मा को भूल जायेंगे—ऐसा मत सोचना। जब हर वस्तु पर उस जगत् पति, जगत् पिता, सृष्टि के मालिक के नाम की मोहर लगा दी तुमने, तो चिट्ठी पर जिसके नाम की मोहर लग जाती है, वह उसी को मिलती है कि दूसरा कोई लेता है? तो प्यारे के नाम की मोहर लगाओ। हर वस्तु पर उसके नाम की मोहर लग गई। तब क्या फल होगा? तो ईश्वर-विश्वासी, जिनके भीतर प्रभु की प्रियता के रूप में भजन आरम्भ हो गया है, वह जब संसार का काम करने चलेगा, तो जिन व्यक्तियों से मिलेगा, उनको देख-देख कर उसके भीतर याद आयेगी—यह मेरे प्यारे का प्यारा है। और जिन वस्तुओं पर उसकी दृष्टि पड़ेगी, तो उन वस्तुओं पर उसके प्यारे के नाम की मोहर लगी हुई है। वस्तु देखेगा, तो अपने प्यारे को याद करेगा। व्यक्ति को देखेगा, तो उसको प्यारे की याद आवेगी। काम करेगा, तो उसमें प्यारे की प्रसन्नता याद आयेगी। तो संसार का काम करते हुए भी उसका भजन अखण्ड रहेगा।

••••••

सन्त-वाणी

अपना गुण एवं पराये दोष देखने से पारस्परिक एकता सुरक्षित नहीं रहती।

प्रवचन 8

उपस्थित महानुभाव, सत्संग-प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

प्रेम-तत्त्व मानव-जीवन का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। ऐसे तो इस व्यक्तित्व में स्थूल तत्त्व भी बहुत से हैं। भौतिक तत्त्वों से बने हुए शरीर में देखिए, तो बहुत से स्थूल भाग भी हैं। और कुछ अंश तो इस शरीर का ऐसा है कि जिसको हम लोग देखना भी पसन्द नहीं करेंगे। लेकिन इसी व्यक्तित्व में कुछ अलौकिक तत्त्व हैं कि जिनके आधार पर मानव-जीवन बड़ा ही मूल्यवान हो गया है। उन अलौकिक तत्त्वों को हम लोग ज्ञान और प्रेम के नाम से जानते हैं। प्रेम रस की अभिव्यक्ति जीवन की सबसे ऊँची उपलब्धि है।

छोटी उम्र की बात है। मुझे ऐसा लगने लगा कि मैं मनुष्य हूँ तो मुझे ऊँचा जीवन चाहिए। ऊँचा जीवन क्या कहलाता है, कैसा होता है, सो तो कुछ पता नहीं था, लेकिन ऐसे ही भीतर बार-बार यह बात उठती रहती कि बढ़िया जीवन चाहिए, ऊँचा जीवन चाहिए। खा-पीकर सो करके मर जाने वाला जीवन नहीं चाहिए। तो पिताजी से चाचाजी से और दरवाजे पर बैठक में कोई साधु-संत आ जाय तो उन सब से मैं पूछती रहती थी। ऐसा मालूम होता था कि बहुत बड़ा प्रोग्राम है और उसको पूरा करना है। पहली बात जो मुझे सूझी, वह यह सूझी कि शरीर को खूब बढ़िया बलिष्ठ रखना चाहिए और खूब पढ़ना-लिखना चाहिए। बहुत अच्छी पढ़ाई हो जाएगी तो ऊँची शिक्षा के द्वारा जीवन बढ़िया हो जाएगा। मैंने इन्हीं बातों के लिए खूब दिल तोड़ परिश्रम किया। शरीर भी बढ़िया बना रहे और खूब पढ़ना-लिखना हो जाए लेकिन एक बड़ी विचित्र बात हुई मेरे जीवन में। जब मास्टर डिग्री का आखिरी एग्जामिनेशन देकर विश्वविद्यालय से मैं निकल रही थी, तो एकदम से भीतर से ऐसा अन्धकार व सूना-सूना सा लगने लगा। मैंने कहा—छः वर्ष का समय खूब परिश्रम के साथ मैंने बिताया मास्टर-डिग्री के लिए। लेकिन जिस तरह से मैं उस विश्वविद्यालय

के मुख्य द्वार में प्रवेश करते समय अपने को अधूरा-अधूरा, अभाव में पाती थी, आज बाहरी दृष्टि से ऊँची शिक्षा को पूरी करके निकलने के समय भी हृदय उतना ही सूना-सूना लग रहा है, भरा-पूरा नहीं लग रहा है। भीतर से अभाव नहीं मिटा। तो मुझे पता चल गया कि जीवन का जो प्रश्न है, वह शारीरिक और बौद्धिक विकास से हल नहीं हुआ। अब कोई भगवान के घर का दरवाजा देखा हुआ संत मिल जाय तो मुझको दरवाजे तक पहुँचा दे।

यह बात मैं भीतर से अनुभव कर रही थी। लेकिन बाहर से कोई प्रयास मैं कर रही हूँ, सो बात नहीं थी। केवल भीतर से एक आवश्यकता मालूम होती थी यह जानने की, कि ऊँचा जीवन कैसा होता है, भरपूर जीवन कैसा होता है। दुःख से, अभाव से, *sense of inferiority* (हीनता की भावना) से जिन्दगी कैसी होती है, यह तो कोई अनुभवी महात्मा मिले तो बतावे। तो आवश्यकता मेरे भीतर थी बाहर से मैंने कोई प्रयास नहीं किया। लेकिन मंगलकारी प्रभु का विधान इतना मंगलमय है, कि उन्होंने मुझको अनुभवी संत से मिला दिया। उनसे मिलने के बाद, उनके द्वारा ज्ञान और प्रेम-पूर्वक मेरी सेवा हुई। मैंने संत की सेवा नहीं की। उन्होंने अपने ज्ञान से अपने प्रेम से मेरी जो सेवा की उससे मुझे बड़ा बल और प्रकाश मिला। तो मैं अपना उदाहरण दे करके यह बात निवेदन करना चाहती हूँ जिज्ञासु और सत्संगी भाई-बहिनों से कि भाई, आवश्यकता अपने भीतर होती है, लेकिन पूर्ति का सारा इन्तजाम प्रभु स्वयं करते हैं। हमारे साथ तो किया है, इसलिए मैं कहूँगी, उनका गुण गाऊँगी। अनुभवी संत के पास रह करके, उनके ज्ञानपूर्ण व्यक्तित्व की छाया में पलकर, उनके प्रेम की गोद में शक्ति लेकर मुझे इस बात का पता चला, कि मनुष्य का जीवन सबसे ऊँचा कब होता है और सबसे बढ़िया उपलब्धि उसके भीतर क्या है।

तो मूल रूप से प्रेमतत्त्व जो उसमें विद्यमान है, उस प्रेमतत्त्व का विकास जब होता है, तो मनुष्य का जीवन पूर्ण होता है। यह बात मुझे उनके पास बैठने के बाद मालूम हुई। आज मैं इस बात का बहुत अच्छी तरह अनुभव करती हूँ कि समाज में कितना भी सम्मान मिल जाय और बाहर से लोग आपको कितना भी साधु समझने लग जायें, भक्त और सामाजिक कार्यकर्ता समझने लग जायें, बहुत श्रीमान रूपवान, गुणवान समझने लग जायें, अथवा इन सब परिस्थितियों से होकर आप गुजरें, लेकिन भीतर पूर्णता की अनुभूति नहीं हो सकती, जब तक कि इस व्यक्तित्व में अलौकिक तत्त्वों का विकास न हो जाय। अर्थात् ज्ञान और प्रेम का विकास जब तक नहीं होता, जीवन पूर्ण नहीं होता; अधूरा-अधूरा रहता है।

एक विदेशी सज्जन हिन्दुस्तान में आना चाहते थे यहाँ के संतों से मिलने के लिए। उनको भीतर कुछ अभाव की पीड़ा सता रही थी। वे सज्जन बड़े ही प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। स्विटजरलैण्ड में साईकिआट्रिक इन्स्टीट्यूट है उसके डाइरेक्टर हैं, डॉक्टर बॉस *(Boss)*, बड़े नामी आदमी हैं। बहुत धन भी है उनके पास, और बहुत से शिष्य भी हैं उनके। संसार के बहुत से भागों में उनके पढ़ाए हुए साइकिआट्रिक डॉक्टर हैं, जो कि मानसिक रोगों की चिकित्सा करने में लगे हैं। तो उनको सुख भी है, सम्मान भी है, शारीरिक स्वास्थ्य भी है, योग्यता भी है, सम्पत्ति भी है, पद भी है, सब कुछ है। लेकिन वे एक मनुष्य हैं। मुझे बहुत अच्छा लगता है यह कहते हुए कि वे एक मनुष्य हैं—उसका अर्थ क्या है कि संसार उनके पास बहुत अनुकूल रूप धारण करके आया, फिर भी उन्होंने अनुभव किया कि—"यह सब कुछ नहीं है, कुछ नहीं है। मुझे तो कुछ और चाहिए।"

उन्होंने जो पत्र लिखा कि "More and more we study in Psychology, we find our-selves hanging in the air. Our

findings are base-less. Therefore I want to come to Indian Saints to find something solid, something more dependable which I can give to my students."

स्वामी जी महाराज के पास मैं पढ़कर के सुना रही थी और हँस रही थी। मैंने कहा—स्वामीजी महाराज ! इस भले आदमी ने भगवान् का एक नया नाम सुनाया है हम लोगों को। "Something 'solid', something more 'dependable.'"

उस बेचारे को यही भाषा आती थी। वह नहीं कह सकता था कि मुझे सच्चिदानन्द स्वरूप चाहिए, कि मुझे पूर्ण ब्रह्म चाहिए, कि मुझे मैया कौशल्या का लाला—राम चाहिए, कि मैया जसोदा का लाला—कन्हैया चाहिए। यह सब वह नहीं कह सकता था। उसको मालूम ही नहीं था। उसका वैसा Background ही नहीं था, लेकिन वह "फील" कर रहा था भीतर-भीतर कि बाहर से इतना जो कुछ मुझको मिला है, यह सब *Baseless* है, यह सब हवा में डोल रहा है, यह सब निराधार है। इसके द्वारा जीवन में इसको *solid* अर्थात् ठोस कुछ नहीं मालूम होता था। तो *I want something solid. I want something more dependable* कहा है। महाराज जी से मैंने कहा कि बेचारे को *Most Dependable* कहना नहीं आया। तो जो दीख रहा था उसको, वह निराधार लग रहा था। जो सब चीजें उसको मिली थीं वे संसार की सीमा के भीतर मिली थीं, दूसरे लोगों के लिए बहुत ही आकर्षक मालूम होती होंगी। लेकिन उसने जो स्वयं उन वस्तुओं का प्रयोग करके देखा तो उसको पता चल गया कि भीतर-भीतर कुछ कमी है। *(Something missing)* उस कमी का अनुभव करके वह भला आदमी हिन्दुस्तान में आया। सन्तों से मिला। उसकी कमी पूरी हो गई। न मंत्र दीक्षा लेने की जरूरत पड़ी न अध्ययन करने की जरूरत पड़ी, न भूखे नंगे रहने की जरूरत पड़ी, न कुटिया बना कर वन में बसने की

जरूरत पड़ी। उसके भीतर बड़ी जबरदस्त प्यास थी, जो उसे यहाँ ले आई थी।

हम लोग अपनी परम्परा की भाषा कहते हैं कि हम लोगों को अविनाशी जीवन चाहिए। हमको ऐसा आधार चाहिए कि जिससे कभी वियोग न हो। दुनियाँ के जितने आधार अपने को मिलें वे सदा-सदा के लिए रहने वाले नहीं हैं। एक दिन मिले तो बड़ी खुशी मनाई गई और दूसरे दिन वे आधार छूट गए तो बड़ा शोक मनाया गया। ऐसा होता है, हो रहा है।

हमारी जान-पहचान के एक सज्जन हैं। उन्होंने बड़ी धूमधाम से एक लड़की की शादी की थी। शादी के पहले वे बड़े प्रसन्न थे। मुझको अपने घर बुलाया, सब समाचार बताया और कहा कि बड़ा अच्छा लड़का मिल गया। विदेश में बड़ा बढ़िया व्यापार उसका चलता है, खूब पढ़ा-लिखा है। मुझे कुछ दिनों के बाद सुनने को मिला कि बरात आ गई और रात के समय शादी हो गई। लेकिन दूसरे दिन सबेरे होने से पहिले लड़के का देहान्त हो गया, हार्ट-फेल हो गया। तो ये आधार हैं?

बहुत दिनों तक मैं सोचती रह गई कि यह क्या हुआ? तो यहाँ का आधार तो ऐसा ही है। यह आता है, मिलता है तो व्यक्ति बहुत ही बलपूर्वक उस आधार को पकड़ कर अपने को भाग्यशाली समझता है। अपने को सुरक्षित *(secured)* समझता है, अपने को बड़ा सुखी समझता है, और वह बेचारा जानता ही नहीं है कि इसको बुलाने में, पकड़ने में और इस आधार को अपना सहारा बनाने में जितना समय लगा है, छूटने में उतना नहीं लगेगा। नहीं जानता है। अबोध, अज्ञानी, संसार के स्वरूप से अपरिचित, बड़े जोर से पकड़ता है आधार को, और छूट जाता है, तो सिवाय हाय-हाय के और कुछ बचता नहीं है।

हम लोग अपनी परम्परा के अनुसार क्या कहते हैं? कि मुझे तो वह आधार चाहिए कि जिसको पकड़ करके फिर कभी दुनियाँ में असहाय न होना पड़े। तो हम लोग इस भाषा में प्रकट करते हैं अपनी आवश्यकता को अपनी माँग को। डॉक्टर बॉस ने दूसरी भाषा में प्रकट किया। भीतर से उसकी जोरदार प्यास थी कि मुझ को वह चाहिए। उसके लिए बढ़िया संयोग बन गया। उसने संसार की सब चमक देख ली थी। और, वह सजग आदमी, वह सचेत व्यक्ति इस बात को अच्छी तरह से पहिचान गया कि यहाँ जो कुछ मिला है, उसमें कुछ भी *Solid* नहीं है, *dependable* नहीं है। इधर की ओर से उसका विश्वास उठ गया तो यह नहीं कि उसने डाइरैक्टर की पोस्ट को छोड़ दिया। छोड़ा नहीं। अभी भी डाइरैक्टर है वह वहाँ पर। तो पद को छोड़ दिया हो, सो नहीं किया। खाना-पीना छोड़ दिया हो, सो नहीं किया। कपड़े पहनना छोड़ दिये हों या कि वन में भाग गया हो, या पढ़ाने का काम छोड़ दिया हो, सो कुछ नहीं। लेकिन उसने संसार के वास्तविक स्वरूप को पहचान लिया, अनुभव कर लिया और ऐसा अनुभव करने मात्र से संसार से उसका सम्बन्ध टूट गया।

हम लोगों का एक अजीब प्रकार का ख्याल बना रहता है, एक धारणा बनी रहती है कि भाई, चलो! अब सत्संग की तैयारी करनी है, अब जीवन की खोज करनी है। तो जल्दी-जल्दी हिसाब खत्म करो, जल्दी-जल्दी दुकान बन्द करो और जल्दी-जल्दी परिवार वालों से छुट्टी माँगो।

एक सज्जन हमारे पास आश्रम में आए, तो कहने लगे कि 'बहन जी, हम क्या-क्या तैयारी करें? तो हमने ऐसे ही कहा कि अरे भैया! तैयारी करने की क्या बात है? अगर इस दृश्य जगत् से अपना विश्वास उठ गया, तो जहाँ रहेगा तहाँ कुशल से रहेगा और आपका काम बनेगा। तब कहने लगे कि तब मैं बाल-बच्चों को लिख के भेज दूँ कि अब हमको

अपना मत मानना ? तो उन बेचारे को विश्वास दिलाने के लिए मैंने कहा कि हाँ, लिख दो। तो हर एक को, एक लड़की विदेश में थी, एक लड़की भिलाई में है और एक लड़का है इलाहाबाद में—सब जगह पत्र लिख-लिख कर उन्होंने भेजा कि देखो, अब मैं साधक बन रहा हूँ, अब मैं सत्संगी बन रहा हूँ। अब मुझको संसार से सम्बन्ध तोड़ना है। तो तुम लोग अब ऐसा मान लो कि तुम लोगों से मैंने सम्बन्ध तोड़ दिया। अब मुझको अपने काम के लिए बुलाना मत। और, बेचारे जो जो समझ रहे थे अपने लिए उपयोगी, सब चिट्ठी लिख-लिख के भेज रहे थे। लिखें और आकर के मुझको दिखायें—बहन जी ! देखिए, मैंने ऐसा लिखा है। बँधा होता है क्रिया से, तो आदमी के भीतर एक ख्याल बना हुआ है कि बाहर से कुछ क्रिया करेंगे, तब सम्बन्ध टूटेगा। अरे भाई, सम्बन्ध तो तुम्हारे मान लेने से बन गया है। तुम मानना छोड़ दो, टूट गया।

जिस दिन डॉक्टर बॉस स्विटजरलैण्ड से चला होगा हिन्दुस्तान आने के लिए, उसके पहले ही उसका विश्वास उठ गया संसार की उपलब्धियों से। तो सम्बन्ध टूट गया, उसमें विश्वास नहीं रहा। काम नहीं छोड़ा। काम के बदले में जो मिला, उसका महत्त्व उसके जीवन में से निकल गया। परिस्थिति को नहीं बदला। उसने अपने विचारों में परिवर्तन कर लिया कि यह सब *solid* नहीं है, यह सब *Dependable* नहीं है। सुना है ऐसा कि हिन्दुस्तान में साधु-संत जो होते हैं, उनके पास *Something solid, something Dependable* होता है। यह उसने सुना था, यहाँ तो कुछ नहीं मिला। अब चलो, हिन्दुस्तान जाते हैं। ऐसा सोचकर के वे आए और केवल संत की कृपा-दृष्टि के आगे खड़े होने मात्र से ही उनके भीतर जो अभाव था, वह मिट गया और जो कमी महसूस होती थी वह पूरी हो गई। तो उसे कुछ भी तैयारी नहीं करनी पड़ी। ऐसे ही हो गया।

यह उदाहरण देकर भाई-बहनों की सेवा में यह निवेदन करना चाहती हूँ कि यह मानव-जीवन का सत्य है, यह एक व्यक्ति का उदाहरण नहीं है। ऐसे ही सत्य का दर्शन स्वामी शरणानन्द जी महाराज को हुआ और उन्होंने कलिकाल के हम सभी अल्प सामर्थ्य वाले साधकों पर कृपा करके यह बताया, हम लोगों को सुनाया कि भैया! मानव के जीवन की एक बड़ी विलक्षणता है। वह विलक्षणता क्या है? कि यदि तुम सत्य से अभिन्न होना पसन्द करते हो, यदि तुम सर्वोच्च जीवन की आकांक्षा रखते हो, यदि तुम प्रेमस्वरूप परमात्मा के प्रेमी होना चाहते हो, तो तुम्हारे भीतर की जो यह माँग है, वह माँग ही सर्वश्रेष्ठ साधना है। तुम्हारे भीतर आवश्यकता महसूस होने लग जाए तो आवश्यकता महसूस होने मात्र से भीतर ही में जो तत्त्व विद्यमान है वह अभिव्यक्त हो जाता है। उसकी अभिव्यक्ति से जीवन भरपूर हो जाता है। फिर जो एक मैं हूँ, और "यह" मेरा दृश्य है—यह द्वैत का जो भ्रम बना हुआ है—यह भ्रम मिट जाता है। क्या हो जाता है? सीमित अहंभाव की सीमा समाप्त हो जाती है। सीमित अहंभाव की सीमा समाप्त होने से वास्तविक जीवन के साथ अभिन्नता हो जाती है।

आज हम सब लोग क्या अनुभव कर रहे हैं? ऐसा अनुभव कर रहे हैं कि मुझ में संसार का बड़ा आकर्षण है, संसार की ओर बड़ा खिंचाव है, बड़ा चिन्तन भी है, शरीर के नाश हो जाने का भय भी है और अच्छी सुखद परिस्थितियों के बदल जाने का भय भी है। और क्या बताऊँ? इन सारी अप्रिय दशाओं के भीतर-भीतर से प्रभु-प्रेम की अभिलाषा भी है। तो हम लोग क्या करते हैं? कि बहुत सारी अप्रिय दशाओं के भीतर प्रभु-प्रेम की अभिलाषा को पालते रहते हैं? उसको सुरक्षित रखना चाहते हैं, उसको बढ़ाना चाहते हैं। और प्रेम-रस की सरसता और मधुरता से जन्म जन्मान्तर की प्यास मिटाना चाहते हैं। है कि नहीं है? ऐसा चाहते हैं न हम लोग तो कैसे होगा?

हम लोग प्यासे-प्यासे आए हैं दुनियाँ में और ऐसे ही प्यासे-प्यासे चले जायेंगे क्या? ऐसे जाना तो नहीं चाहिए। यहाँ हम आए हैं। धरती पर खड़े होने का टैक्स नहीं दिया है। आकाश में अवकाश लेने का कोई बिल पेमेन्ट नहीं किया है महाराज जी एक दिन कहने लगे कि बड़ा अभिमान करते हो। अरे! सूर्य भगवान रोशनी देते हैं, ताप देते हैं, बिल भेज दें तो पेमेन्ट कर पाओगे? नहीं कर पाओगे। तो प्रकृति की ये शक्तियाँ—प्राण वायु आपको श्वास लेने देती है, सूर्य आपको ताप और प्रकाश देते हैं, धरती आश्रय देती है, आकाश आपको अवकाश देता है—ये सारी प्रकृति की शक्तियाँ मिलकर हम लोगों की मदद करती हैं ताकि हम जीवन को धारण कर सकें। तो जीवन धारण करने का एक विशेष अर्थ होना चाहिए। क्या विशेष अर्थ होना चाहिए?

अगर मेरे भीतर अविनाशी जीवन की जिज्ञासा है, प्रभु-प्रेम के मधुर रस की प्यास है तो प्रकृति की शक्ति इस शरीर के अणु-परमाणुओं को बिखेरेगी—यह मिट्टी-मिट्टी में मिलेगी, प्राण महाप्राण में समायेगा, वायु-वायु में, जल-जल में जाकर समायेगा—यह क्रिया प्रकृति करेगी, उसके पहले हम लोगों को अपना प्रोग्राम पूरा कर लेना चाहिए। चाहिए कि नहीं चाहिए? जरूर पूरा करना चाहिए। नहीं तो क्या होगा?

उदाहरण के लिए—अस्पताल में भर्ती होने का समय दिया गया कि तुम औषधि का सेवन करना, आरोग्य के सब उपाय करना, डॉक्टर जो बताए सो करना, पथ्य करना, और स्वस्थ होकर चले जाना। और कोई अस्पताल में भर्ती हो जाय और डॉक्टर की सहायता ले ले, दवाई ले ले, पथ्य ले ले और उनका सेवन न करे, बीमार होकर वहाँ पड़ा ही रहना पसन्द करे या फिर कोई रोगी दवा भी न खाए, पथ्य भी न करे, डॉक्टर का कहना भी न माने, आरोग्य प्राप्त न करे तो उसको अस्पताल में रहने की इजाजत मिलेगी? नहीं मिलेगी। वह मानेगा ही नहीं, तो नियम के

अनुसार उसे निकाल दिया जायेगा—कि तुमको आरोग्य पाना ही नहीं है तो यहाँ रहते काहे को हो? जाओ। हटा दिया जायेगा।

प्रकृति के विधान में ऐसा ही नियम हम लोगों के लिए है। मैंने स्वामी जी महाराज के मुख से भी सुना है। हमारे समय में वैस्टर्न फिलोसफी (पाश्चात्य दर्शन) पढ़ाई जाती थी। उस समय भारतीय दर्शन का अध्ययन नहीं होता था उस विश्वविद्यालय में, जहाँ मैंने अध्ययन किया। तो वैस्टर्न फिलोसफी के सिस्टम में भी मैंने पढ़ा है कि प्रकृति ने, सृष्टिकर्ता ने, जीवनदाता ने मनुष्य को अवसर दिया है कि जो ज्ञान का प्रकाश उस ज्ञान-स्वरूप में से आ रहा है, उस प्रकाश में तुमको दिखाई दे रहा है जैसा कि डॉक्टर बॉस को दिखाई दिया—कि ये सब हवा में डोल रहा है, *Base-less* अर्थात् ठोस आधार से रहित है। यह सब कुछ नहीं चाहिए। तो जैसे उसे दिखाई दिया, वैसे क्या हम लोगों को दिखाई नहीं देता? दिखता तो है, ज्ञान के प्रकाश में दिखाई दे रहा है। तो इस दृश्य जगत् में से जीवन-बुद्धि निकाल दो। कब निकालोगे? साँस चल रही है, स्वास्थ्य ठीक है, तभी तक निकाल दो, तभी तक कर लो जब तक चेतना बनी हुई है। नहीं तो क्या हो सकता है? बड़ी दर्दनाक दशा होती है।

ऐसे-ऐसे सत्संगियों को मैंने देखा है, जो बहुत दिनों से संतों के पास आ रहे हैं, संतों को सुन रहे हैं। और, अब उनका क्या हाल है? कि वृद्धावस्था के कारण *Memory* (स्मरण शक्ति) फेल हो गई है, स्मृति अब काम नहीं कर रही है। बैठ नहीं सकते हैं। अभी भी सुनने के लिए आ रहे हैं, लेट जाते हैं, सुनते हैं। आधा नहीं सुनाई देता। जो सुनाई देता है, वह समझ में नहीं आता है। समझ में आता है, वह याद नहीं रहता। फिर भी उनका सत्संग सुनने का काम बाकी रह गया है। पूरा नहीं हुआ। ऐसी दर्दनाक दशा मैंने आँखों से देखी है। तो मैं अपने को भी चेतावनी दे रही हूँ और आप भाई, बहनों से भी करबद्ध प्रार्थना कर रही हूँ कि भाई, वह

घड़ी मत आने दो, कि समय निकल गया और काम बाकी रह गया। ऐसा मत होने दो। क्या कर लो? यह काम पूरा कर लो कि शरीर का नाश हो पीछे और शरीर की आसक्ति टूट जाय पहिले। नाशवान विलुप्त होगा पीछे और अविनाशी के ज्ञानमय प्रकाश से और प्रेममय रस से धन्य हो जाओ पहिले। ऐसा होता है, ऐसा हुआ है, ऐसा हो सकता है। हम सभी भाई-बहनों के साथ हो सकता है, इसी वर्तमान में हो सकता है।

आज मैं महाराजजी का वचन सुन रही थी। उसमें उन्होंने यह कहा कि देखो भाई, क्या जाने फिर दूसरे साल हम तुमसे कहने के लिए आ सकें, कि नहीं आ सकें। इसलिए मैं बार-बार तुम्हारे भीतर यह चीज भर देना चाहता हूँ कि एक बार मेरे सामने बैठ करके, सुनते हुए तुम इस बात को स्वीकार कर ही लो कि मैं परमात्मा को पसन्द करूँगा, तो मरने से पहले परमात्मा मुझसे भेंट-मुलाकात कर लेंगे। विश्वास कर लो, इस बात को मान लो। इसमें सन्देह मत रखो। अगर मान लोगे, तो तुम्हारे भीतर छटपटी पैदा हो जाएगी, भीतर उत्कण्ठा पैदा हो जाएगी। और, उदाहरण दिया शबरी का।

उनके गुरु ने कहा कि शबरी जी! आप यहीं पर विराजमान रहिए। इसी आश्रम में रह करके साधन कीजिए। प्रभु जब आएँगे तो आपको इसी जगह पर मिलेंगे। तो उसने सुन लिया गुरु की वाणी से। तो उसके भीतर स्टैम्प (छाप) लग गयी—प्रभु, आयेंगे, प्रभु आयेंगे। तो वेदान्त का सत्संग तो उसने सुना ही नहीं था। शास्त्रों का अध्ययन उसने किया ही नहीं था। जिन्दगी का विवेचन उसके सामने था ही नहीं। भगवान् आयेंगे तो उनसे मुक्ति माँगेंगे, कि भक्ति माँगेंगे, कि क्या माँगेंगे—उसको कुछ पता नहीं है। भगवान् से हम क्या माँगेंगे, क्या लेंगे, आयेंगे तो कैसा उनका रूप होगा, कैसा उनका रंग होगा, कैसे मैं पहचानूँगी, किस तिथि को कितने बजे आयेंगे? सो सब कुछ नहीं। गुरु ने कहा कि प्रभु आयेंगे।

आयेंगे-इस आशा में उस महिला के भीतर उत्कण्ठा जग गई। ऐसी उत्कण्ठा जग गई कि संध्या समय घर-कुटिया को साफ करके चटाई बिछा करके दीपक जला कर दरवाजे पर रखती और अपलक नयनों से बन-पथ निहारती रहती—प्रभु आ रहे हैं, प्रभु आ रहे हैं, प्रभु आते होंगे, प्रभु आयेंगे, अब पहुँच जायेंगे, अब आ जायेंगे। करते-करते उस गहरी उत्कण्ठा में उसके भीतर अलौकिक, अविनाशी रस की ऐसी बाढ़ आ जाती कि शरीर-धर्म उसका छूट जाता। भूख नहीं है, प्यास नहीं है, नींद नहीं है। सन्ध्या काल बैठी थी सबेरा हो गया। कैसे रात बीत गयी? पता नहीं है। मैं कभी-कभी सोचती हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि अवतारी पुरुष बनकर के, सगुण साकार प्रत्यक्ष हो करके आये बहुत देर में, लेकिन अपने ज्ञान-स्वरूप से, अपने प्रेम-स्वरूप से वे तो उसी दिन मिल गए शबरी को, जिस दिन उसने गुरु की वाणी में विश्वास किया। अपना स्वाद भूल गई, अपना खाना भूल गई, अपना सोना भूल गई। सर्दी-गर्मी का पता नहीं है। दिन-रात का पता नहीं है। अखण्ड स्मृति, अगाध प्रियता। आयेंगे तो क्या खिलाऊँगी, क्या पिलाऊँगी, कैसे आनन्दित करूँगी। स्तुति करना तो हमको आयेगा ही नहीं। तो कैसे उनकी अभ्यर्थना करूँगी। जो कुछ उसके भीतर है, अभिलाषा जो है, प्रभु को आराम देने की है, उनको प्रसन्न करने की है। अपनी मुक्ति-भक्ति की बात वह बेचारी जानती ही नहीं थी। क्या सोचेगी? क्या करेगी? तो यह उदाहरण बड़ा अच्छा लगता है मुझे सोचने के लिए कि कितनी बढ़िया बात है भगवान् की स्मृति की, जो मनुष्य के भीतर एक बार जग जाती है।

स्वामीजी महाराज ने बहुत ही विशद और बहुत गहन व्याख्या की है "स्मृति" शब्द की। वे कहते हैं कि स्मृति "प्राप्ति" के समान फल देने वाली होती है। स्मृति साधन की अभिव्यक्ति का आरम्भ भी है और साध्य से अभिन्न होना भी है। स्मृति की बड़ी महिमा है। आज अपनी दशा पर

बहुत लज्जा आती है सोचकर के, कि जो अपना नहीं है, उसकी याद तो भीतर में जबरदस्ती भरी हुई है और जो सदा-सदा से अपना है, जब मैं उनसे नाराज रहती थी तब भी मेरी रक्षा करते थे, जब मैं उनकी आलोचना करती थी तब भी मुझ पर अपनी कृपा बरसाते थे, ऐसे जो अपने से अधिक मेरे हित-चिंतक हैं—उनकी याद आती नहीं, याद करने की तैयारी करनी पड़ती है। लाज-शर्म की बात है कि नहीं? जो कभी तुम्हारा होकर रह न सका, कभी तुम्हारा होकर रहेगा नहीं, उसकी याद तो भरी पड़ी है। और, यह शरीर जिस दिन मातृ-गर्भ में उल्टे लटका हुआ था और जिस दिन चिता पर जल रहा होगा उस दिन भी जिसने मेरा साथ नहीं छोड़ा, उसकी याद करनी पड़ती है। क्या कहें?

तो भाई! इस दशा को मिटाना पड़ेगा और आज ही मिटाना पड़ेगा और प्राण पण से इसके लिए पुरुषार्थ करना पड़ेगा। कौन-सा पुरुषार्थ? कि जो तुम्हारा नहीं है, उसमें से अपना विश्वास उठा लो, जैसे डॉक्टर बॉस ने उठा लिया। और 'जो' तुम्हारा है वह न दिखे तो न सही। मैं तो भला मानती हूँ कि "वह" नहीं दिखता है। नए-नए साधक लड़के-लड़कियाँ स्वामीजी महाराज के पास आते, तो महाराज कहते कि भाई! चलो-चलो, तुमको उसके हवाले कर दें। तो लड़कियाँ कहतीं कि स्वामी जी महाराज! आपको तो सस्ता पड़ गया है। कन्याएँ मिलती जाती हैं। एक दामाद चुन कर रखा है। सबको उसके हवाले करते जाते हैं। हम लोग कैसे मानें उसको? दिखते तो हैं नहीं, जानते तो हैं नहीं। तो महाराजजी खूब हँसते। कहते कि देखो बालिकाओं! हमारा कोई और होता, तो मैं सोचता। हमारा तो एक ही है। हमारे पास आओगी तो हम "उसी" को देंगे।

और, वे इतने समर्थ हैं कि सारी सृष्टि के जितने भी लोग उनके होना पसन्द करें, वे उन सबको अपना सकते हैं। बड़ा वीर है, बड़ी सामर्थ्य

है उसमें, बड़ा ही ऐश्वर्यवान है वह। तो और लोग जो कहते हैं कि दिखता नहीं है, मैं क्या करूँ? कैसे उसको अपना मानूँ? तो मैंने जब अपनी ओर देखा तो मुझे बड़ी खुशी हुई। मैंने कहा कि महाराज, अच्छा है कि वह दिखता नहीं है, अच्छा है कि वह दृश्य जगत् में शामिल नहीं हुआ। नहीं तो, यह सारा देखा हुआ तो भागता जा रहा है, भागता जा रहा है। वह भी अगर दृश्य-जगत् में शामिल हो जाता, तो सब दृश्यों के संग वह भी भाग जाता। हम तो रह जाते ऐसे ही। कहाँ जाते फिर किसके पास? तो बड़ी अच्छी बात है कि वह दृश्य-जगत् में शामिल नहीं हुआ।

एक बार स्वामी जी ने गोपी-कृष्ण की एक लीला सुनाई। बड़ा दर्शन है उसमें, बड़ा रहस्य है। कहने लगे कि एक दिन लीलाधारी की मौज आ गई तो उन्होंने कहा, कि सखियों और सखाओं! सब चलो, आज हम एक खेल खेलेंगे। मैं छिप जाऊँगा, तुम मुझे खोजना। अच्छी बात है। छिप गए। सब लोग खोजने लगे। इस कुञ्ज में चलो, उस कुञ्ज में चलो। यहाँ खेलते होंगे, चलो वहाँ वंशी बजाते होंगे, चलो। वहाँ गउओं के बीच में छिप गये होंगे, चलो। उस पहाड़ की गुफा में छिप गये होंगे, चलो। जमुना तट पर चलो। खूब खोजे, खूब खोजे। चारों ओर ढूँढते फिरे, ढूँढते फिरे। पता ही नहीं लगे। कहीं नहीं मिले। तो क्या करें? तो कहने लगी एक सखी कि छोड़ दो, अब तो नहीं मिल रहा है। अब क्या हो गया? कि साधक की सब दौड़-धूप खत्म हो गई। प्रयास सारा खत्म हो गया। अब कहाँ जायेंगी? अब कोई जगह नहीं रही खोजने की। तो अब छोड़ दो। अब चल के बैठो और उनकी लीलाओं का कथन करो, उनके गीत गाओ, तो उससे आकर्षित होकर के आ जायेंगे। तो यह भी चला, फिर भी नहीं मिले। सब प्रकार से जब वे लोग हार गए और एकदम व्याकुल होकर कोई मूर्छित हो रहा है, कोई अधीर हो रहा है, कोई अपनी असमर्थता सोच रहा है कि हाय! हम तो ढूँढ ही नहीं सके। प्यारे! तुम

कहाँ हो? ऐसे करके जब सारा प्रयास खत्म हो गया, तो वे बीच ही में प्रकट हो गए। प्रकट हो गए, तो सब बहुत आनन्दित हो गए, और खूब खेल होने लगा, खूब आनन्द मनाया जाने लगा। तो, एक गोपिका सखी जो थी, वह आकर कहने लगी पकड़ के उनको, कि प्यारे! सच बताओ तुम कहाँ छिपे थे? हमने तो बहुत ढूँढा। कोई जगह ही नहीं छोड़ी। तुम तो कहीं मिले नहीं। सच बताओ तुम कहाँ थे? तो वे तो सत्यवादी हैं। कहते हैं कि मैं कभी मिथ्या नहीं बोलता हूँ। मैं बिल्कुल सत्य कहता हूँ। हे सखी! मैं बिल्कुल सत्य कहता हूँ। मैं तो तुम्हारे में छिप गया था। तुम्हारे ही में छिप गया था। तो इतनी सच्ची बात है, कि हम लोग सोचते हैं कि परमात्मा दिखता नहीं है। तो भाई मुझ से बाहर हो तब न दिखे? यह रहस्य पकड़ में आता है? तुम्हारे ही में है। तो जो अपने ही में है, वह अपने से अलग दिखाई कैसे देगा? तो कभी मत सोचना कि वह अलग से दिखेगा, तब हम उसके भक्त बनेंगें। भक्त बन जाओगे, तो वह एक ही दो बन करके खूब लीला करता है। उसमें उसे कोई दिक्कत नहीं होती है। लेकिन भक्त बनने के पहले सोचो कि वह मुझे दीखे, तो कैसे दिखेगा? जो तुम्हारे ही में है, जो उस स्वरूप में ही है जिस स्वरूप में तुम हो। तो जो स्वयं ही है तो वह दृश्य कैसे बनेगा? इसलिए वह दिखता नहीं है।

हम लोग भी दौड़ते फिरते हैं कि वहाँ हरिद्वार में जा के बसेंगे, तो मिलेगा। वहाँ जाके ऐसा करेंगे तो मिलेगा। अब ऐसा खायेंगे तो मिलेगा। अब ऐसा पढ़ेंगे तो मिलेगा और भाई, कभी यह भी सोच सकते हैं कि समाज का काम छोड़कर चुप बैठेंगे तो मिलेगा। तो यहाँ जाओ, वहाँ जाओ, यह देखो, वह देखो, कर लो। रहा नहीं जाता है, तो क्या करोगे? लेकिन भाई, सच्ची बात क्या है?

जो अपने में ही है, स्वरूप में ही है, जिसमें तुम हो, जो तुम में है, वह बाहर कहाँ मिलेगा? कैसे मिलता है? उसकी जरूरत अनुभव करो, तो वह तो एकदम तैयार खड़ा है। प्यार की जो भावना है और प्रेम का जो रस है वह हम लोगों से भी ज्यादा परमात्मा को मीठा लगता है। स्वाद वे ही जानते होंगे, हमको तो क्या पता?

हम तो वासनाओं की तृष्णा में जलते हैं। तो प्रेमरस का मधुर स्वाद कैसा होता है हमको क्या पता? लेकिन उनको पता है, तो उनको बड़ा चाव है इस बात का कि आपके भीतर आवश्यकता जग जाय। तो यहीं पर वे मौजूद हैं। उनको दूर से कहीं से चल के आना नहीं है। भ्रम निकल गया तो प्रेम ही प्रेम रह गया, ज्ञान ही ज्ञान रह गया।

तो ऐसा जो प्रेम-स्वरूप, ज्ञान-स्वरूप, शुद्ध-स्वरूप का साधक है, उसके संग खेलना, उसका झूठन खाना, उसकी गोदी में उठाना, उसको पीठ पर चढ़ाना, उसको हर प्रकार से रिझाना भगवान् का खेल हो जाता है। तो तुम क्या करोगे? हमने जिन संत की शरण में बैठ करके साधना आरम्भ की उनसे भी सेवा ली, जिन माता-पिता की गोद में यह शरीर पैदा हुआ, पला उनसे भी सेवा और प्यार लिया। और अब उस अनन्त ऐश्वर्यमान्, सृष्टिकर्त्ता के आधार को पकड़ के बैठे हैं, तो अब उनसे भी सब प्रकार से सेवा और प्यार ले रहे हैं। मिलता है भाई, बहुत मिलता है।

■■■■■■

प्रवचन 9

उपस्थित महानुभाव, सत्संग-प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

हम लोगों ने सन्त-वाणी में बहुत ही आवश्यक तीन वाक्यों को सुना। स्वामीजी महाराज ने बताया कि अकिंचन और अचाह हुए बिना शान्ति मिलेगी नहीं। दूसरों के काम आये बिना करने का राग मिटेगा नहीं। और प्रभु को अपना माने बिना स्मृति और प्रियता जागेगी नहीं। तो ऐसा लगता है कि बाहरी विधि-विधान हम लोगों का कुछ भी रहा हो, कोई मन्दिर में जाना पसन्द करे, कोई मस्जिद में, कोई गिरजाघर में, गुरुद्वारे में; कोई भी चिह्न, प्रतीक और बाहरी जो भी कुछ हमने माना हो, उसका विधि-विधान बनाया हो और उसका पालन करते हों। इससे जीवन की अभिव्यक्ति में कोई अन्तर नहीं आता, जब तक कि मौलिक बातों को हम स्वीकार न कर लें। मौलिक बात क्या है?

अकिंचन और अचाह हुए बिना शान्ति नहीं मिलेगी। शान्ति-सम्पादन के लिए हम लोग भोजन का क्रम बदल लें, वस्तु बदल लें, स्थान बदल लें, किसी न किसी प्रकार के क्रियात्मक विधि-विधान को अपना लें—सब ठीक है, गलत कुछ नहीं है। लेकिन अकिंचन और अचाह होना—यह इतनी आवश्यक बात है कि सब कुछ करते हुए भी अगर अकिंचन और अचाह नहीं होंगे, तो शान्ति नहीं मिलेगी।

शान्ति की अभिव्यक्ति के लिए अकिंचन और अचाह होना अनिवार्य है। अभिव्यक्ति शब्द का प्रयोग हम लोग करते हैं, क्योंकि जो तत्त्व अपने में पहले से ही विद्यमान है उसको उपजाया नहीं जायगा, इसको प्राप्त नहीं किया जायेगा। केवल इसके प्रकट होने की बात है, अभिव्यक्ति होने की बात है। शान्ति भी अलौकिक तत्त्व है, अविनाशी तत्त्व है और हमारे-आपके अपने अहं में बीजरूप से विद्यमान है। केवल उसके प्रकट होने की बात है अथवा उसका अनुभव मुझे हो जाए, इतनी सी बात है। अनुभव क्यों

नहीं होता ? अनुभव इसलिए नहीं होता कि अनेक प्रकार की भूलों को हम जीवन में रखते हैं जिनके कारण तरह-तरह की अशान्ति पैदा होती रहती है। अशान्ति पैदा होती है और मिट जाती है। जो पैदा होगा वह तो मिटेगा ही। अशान्ति उत्पन्न होती है, इसलिए अशान्ति का नाश होता है। अशान्ति उत्पन्न हो गई तो उसी में हम उलझ गए। परिणाम क्या हुआ ? अपने ही में जो शान्ति विद्यमान है उसका आराम अपने को नहीं मिलता। तो महाराज जी कहते हैं कि अकिंचन और अचाह हुए बिना शान्ति मिलेगी नहीं।

अकिंचन शब्द का अर्थ क्या है ? कि मेरा व्यक्तिगत कुछ नहीं है। जो किसी भी वस्तु पर अपना व्यक्तिगत अधिकार नहीं मानता वह अकिंचन होता है। मुझे कुछ नहीं चाहिये—ऐसा मानने वाला अचाह होगा। जो पूरा अचाह हो जाता है निष्काम हो जाता है, उसको शान्ति मिलती है। हम किसी भी मजहब के मानने वाले हों, किसी भी देश के रहने वाले हों, किसी भी गुरु से दीक्षा ली हो, किसी भी सम्प्रदाय के अनुयायी हों, अगर कामना रखेंगे अपने दिल में, दुनियाँ की वस्तुओं पर ममता रखेंगे अपने दिल में, दुनियाँ की वस्तुओं पर ममता रखेंगे और उन पर अधिकार मानेंगे, तो हमें शान्ति नहीं मिलेगी। यह बिल्कुल सच्ची बात है। आपको विधि-विधान अभीष्ट है, कि शान्ति अभीष्ट है ? क्या चाहिये अपने को ? शांति चाहिए। आपको विशेष प्रकार की दवा खाने का आग्रह है, कि रोग की निवृत्ति चाहिये ? रोग की निवृत्ति चाहिये। तो विधि-विधान और बाहरी बातों का आग्रह हम लोगों को नहीं रखना चाहिये। जिस परम्परा में हम लोग पाले गये हैं, माता-पिता और अभिभावकों ने जो कुछ हमें सिखाया है—सदाचार के नाम पर, नैतिकता के नाम पर, धर्म के नाम पर, भक्ति, पूजा-पाठ के नाम पर, जो कुछ उन्होंने सिखाया है वह जो अपनी परम्परा है, उसका पालन करते हुए भी उसका आग्रह नहीं रखना चाहिये। तो

अपनी परम्परा का आग्रह न रखें, दूसरों की परम्परा के प्रति विरोधी भाव न रखें। जो कुछ सीखा है, जो कुछ उसमें आपके विवेक के अनुसार अच्छा मालूम होता है उसका भले ही पालन करते रहिये, उसमें कोई खराबी नहीं। लेकिन अगर आप सचमुच शान्ति के अनुभव के द्वारा शान्ति के पार जो अलौकिक जीवन है, उसमें अपना प्रवेश चाहते हैं, तो आपको मानव-जीवन की इस वैज्ञानिकता को स्वीकार करना ही पड़ेगा कि भाई, अकिंचन और अचाह हुए बिना शान्ति नहीं मिलेगी।

मैं सोचती हूँ कि रसोई बनाने का बड़ा इन्तजाम होता है। फिर बनी हुई रसोई को परोसने का एक विशेष विधि-विधान होता है। फिर वहीं बैठ करके भोजन करेंगे, प्रसाद पायेंगे, उस स्थान का एक विशेष इन्तजाम होता है। तो, सारा इन्तजाम किसी का बढ़िया हो—रसोई भी बहुत बढ़िया बनी हो और सब बर्तन भी बहुत शुद्ध, पवित्र साफ रखे गये हों, ठीक तरह से सब परोस दिया गया हो, अच्छी तरह से आसन भी लगा दिया गया हो, लेकिन अगर भोजन करके तृप्ति का अनुभव आपने नहीं किया, तो उस सारी तैयारी का भूखे व्यक्ति के लिए क्या विशेष अर्थ है? नहीं है न। तो मुझे ऐसा ही लगता है, कि जो दृश्य-जगत् से अर्थात् उत्पत्ति विनाश, परिवर्तनशील दृश्य से कुछ भी अपने लिए पसन्द करता है, और उसमें से पाने की कामना रखता है, वह बाहर से शान्ति की कितनी भी तैयारी करे, उसे शान्ति नहीं मिल सकती। इससे हम लोगों को पाठ क्या लेना चाहिये? कि मनुष्य के जीवन में शान्ति एक मौलिक तत्त्व है और उसके आराम से हम लोग आज वंचित हो गये हैं। उस आराम के लिए हम लोग तरस रहे हैं। सबको चाहिये वह आराम। तो वह कैसे मिलेगा?

ममता और कामना का त्याग करो, तो मिलेगा। ममता भी अपने को अच्छी लगती है और कामना-पूर्ति का संयोग बना रहे, अनुकूल परिस्थिति बनी रहे, यह भी अच्छी लगती है। परन्तु उससे उत्पन्न होने

वाली अशान्ति अच्छी नहीं लगती। मैं क्यों कहती हूँ कि ममता अच्छी लगती है? मैंने ऐसा देखा है कि आपके पास बहुत सामग्री है। वह सामग्री आपके काम भले ही न आती हो, लेकिन आपके पास है और आपके अधिकार में है, तो केवल इतना ही भीतर से महसूस करना कि इतनी सारी वस्तुएँ मेरी हैं, इन पर मेरा अधिकार है, मैं जैसा चाहूँ तब किसी को दे दूँ तो केवल वस्तुओं पर अधिकार मानने मात्र से ही भीतर-भीतर आदमी को अच्छा लगता रहता है। आदमी अपने को कुछ बलिष्ट अनुभव करता है, थोड़ा स्वाधीन अनुभव करता है। इस तरह से आप देखेंगे कि ममता व्यक्ति को अच्छी भी लगती है। अगर ममता के दोष से केवल हम में विकारों की उत्पत्ति होती ही रहती, सत्य से हम विच्छिन्न होते रहते, उसके कारण से किसी प्रकार का सुख मालूम नहीं होता, तो बहुत जल्दी सब लोग ममता का त्याग कर देते। अब आप सोचिये। हम लोग सत्संगी हो कर जीवन के सत्य पर विचार करने बैठे हैं। वस्तुओं को अपना व्यक्तिगत मानने से व्यक्ति को थोड़ा भीतर से बल मालूम होता है। ऐसा आपने भी अनुभव किया होगा। लेकिन कितनी दयनीय दशा है? सोचो तो? क्या तुम्हारे अपने में कुछ नहीं है? कि मोटर होने से तुम अपने को बलवान मानोगे? मकान होने से तुम अपने को शक्तिशाली मानोगे? पैसा होने से तुम अपने को विशेष मानोगे? तुम्हारे अपने में अपना बल कुछ नहीं है? सोचने से लगता है कि ममता में जो फँसा हुआ व्यक्ति है उसके भीतर भी अपना बल, अपनी सामर्थ्य, अपना जीवन है अवश्य। लेकिन उसका उसको पता ही नहीं चलता और घबड़ा-घबड़ा कर वह बाहर की वस्तुओं को पकड़ता रहता है। इसलिए अपने जीवन की इस दशा को आप सामने रख कर सोचो। बिल्कुल सच्ची बात है कि ममता रख कर न कोई संसार के काम आता है और न कोई अपना कल्याण कर पाता है।

इसलिए स्वामीजी महाराज ने शान्ति-सम्पादन की विधि में बाहर की विधि कुछ नहीं बतायी कि ऐसा आसन लगाओगे, कि साउंडप्रूफ रूम बनाओगे, कि इस प्रकार का अभ्यास करोगे, तब शान्ति मिलेगी। ऐसा उन्होंने कुछ नहीं कहा। यह सब तो हर एक की अलग-अलग परिस्थिति है। आन्तरिक बात तो यह है कि ममता और कामना का नाश नहीं करेंगे, तो शान्ति नहीं मिलेगी। शान्ति के नाम पर बाहरी विधि-विधान खूब करते रहो और ममता और कामनाओं का त्याग करने की न सोचो, तो समय निकल जायेगा, शान्ति नहीं मिलेगी। एक बात हो गयी।

दूसरी बात उन्होंने कही कि दूसरों के काम आए बिना करने का राग मिटेगा नहीं। इसमें भी जीवन का बड़ा भारी रहस्य है, जिस पर हम लोगों की दृष्टि जानी चाहिये। ईश्वर को मानो, चाहे मत मानो। द्वैतवादी बनो या अद्वैतवादी बनो। साकार उपासक बनो या निराकार उपासक बनो, जो भी मन में आवे, जो भी अपने को रुचे, पसन्द आये, सब ठीक है। लेकिन एक खास बात है, जिस पर हम लोगों को ध्यान देना चाहिये। वह क्या है? कुछ न कुछ करना हम लोगों को पसन्द आता है। इसके भीतर रहस्य क्या है? कि शरीरों के सहयोग से किसी न किसी प्रवृत्ति में जब हम लग जाते हैं तो प्रकृति-प्रदत्त कार्यक्षमता, जो अपने भीतर संचित है, उसको खर्च करने का मौका मिलता है। उसको खर्च करने में अपने को कुछ अच्छा लगता है, मजा आता है। अब करने का जो हिस्सा है वह अगर मैंने अपने सुख-सम्पादन के लिए किया, तो प्रवृत्ति में एक राग बन जाता है। प्रवृत्ति में राग बन जाने का उदाहरण देखिए—

जैसे मुझ को जीवन का सत्य आपकी सेवा में निवेदन करने का अवसर मिला। अगर वक्ता होने का सुख मैं लेने लगूँ, तो मैं सत्य के सम्बन्ध में चर्चा कर रही हूँ और बहुत सम्भव है कि सुनने वाले श्रोता भाई-बहनों में से कुछ लोग ऐसे निकलेंगे जो इस सत्य की चर्चा को सुन

कर लाभ उठा लेंगे। तो देखिए, मैं जो बोलने के सुख में अपने को बाँध लूँ, तो मेरा कल्याण नहीं होगा। समझ में आता है? यह कहलाता है—प्रवृत्ति का राग, कुछ करने का राग। करना अपने को सुखकर लगता है। सुख का भोगी करने के राग से मुक्त नहीं होता। अगर करने का राग भीतर में रह जायेगा, तो एक शरीर के नाश होने के बाद पुनः शरीर धारण करने की जरूरत बाकी रहेगी, आवागमन चलता रहेगा। प्रकृति का ऐसा विधान है कि राग-निवृत्ति की आज जो स्वाधीनता अपने में है वह घटती चली जायेगी, रहेंगी नहीं। आज हम लोग स्वाधीन *(Free)* हैं इस बात के लिए कि वक्ता कहलाने का सुख लेने के लिए बोलूँ, या प्रभु के दिए हुए प्रकाश से श्रोता-समाज की सेवा के लिए बोलूँ, कि मुझ में बोलने का राग था, तो मेरे प्यारे श्रोता बन कर आये हैं मुझको वक्ता बनाकर राग-निवृत्ति का चान्स (अवसर) देने के लिए। तो उनकी उपस्थिति जानकर, उनकी हितैषिता जानकर उनकी सेवा में पत्र-पुष्प के रूप में यह पूजा करके मैं उनकी प्रसन्नता का अपने व्यक्तित्व में अनुभव करूँ और बाकी दूसरा कोई अर्थ न रखूँ। अगर साधन-बुद्धि से मेरा यह बोलना है, तो बोलने का राग खत्म हो जायेगा। अगर सुख-बुद्धि से मेरा बोलना है, तो किसी दिन यह कंठ बन्द हो जायेगा, स्वर-यंत्र भंग हो जायगा और मेरे भीतर बोलने की वासना शेष रह जायेगी, मुख से मैं मुक्ति-मुक्ति बोलती रही और बन्धन लेकर मर जाउँगी। समझ में आता है? कितनी स्पष्ट यह बात है। एक दम साफ *Crystal Clear*। इसके आगे कोई भी मत, मजहब, सम्प्रदाय, विशेष विधि-विधान, अनुष्ठान कुछ भी आप ले आइये, इस सत्य के खिलाफ कहीं कुछ नहीं मिलेगा। करने का राग अपने में रह गया, तो जन्म-मरण का बन्धन खत्म नहीं होगा।

स्वामी जी महाराज कहते हैं कि भाई, इस राग से मुक्त हो जाओ। अविनाशी जीवन तो तुम्हारे में ही विद्यमान है। उसको प्रकट होने में देर

क्या लगती है? कुछ नहीं। केवल तुम करने के राग में बँधे हो, चुपचाप रहा नहीं जाता है। ऐसा इसलिए होता है कि अपने में करने का राग है। हाथ-पाँव देखने में आते हैं। उनके भीतर जो स्थूल कार्य करने की शक्ति है वह देखने में आती है। लेकिन अपने अहं में प्रवृत्ति के द्वारा सुख लेने की वासना जो है, वह देखने में नहीं आती। उसके रहते-रहते अगर आप हाथ-पाँव मोड़ कर, आँख बन्द करके समाधि का आनन्द लेना चाहें, तो नहीं ले सकेंगे। कुछ देर शान्त रहने का मजा आता है तो कुछ देर काम करने का जी होता है। काम करना अच्छा है। जब तक यह शरीर है, इस धरती पर आश्रय हम ले रहे हैं, तब तक इस शरीर के द्वारा कुछ काम होता रहे, तो अच्छा है। लेकिन काम का राग अपने में रखना अच्छा नहीं है। अपने सुख के लिए जब तक प्रवृत्ति में लगे रहेंगे, तब तक राग मिटेगा नहीं। और पर-हित के लिए प्रवृत्ति में लग जाओ तो राग मिट जायेगा।

स्वामी जी महाराज ने कहा कि दूसरों के काम आये बिना 'करने' का राग मिटेगा नहीं। तो अब हम लोगों को क्या करना चाहिये? हम लोगों को आज से, इसी क्षण से, प्रवृत्ति की घड़ी सामने आवे, तो हर प्रवृत्ति में अपने सुख के हिस्से को माइनस करके, निकाल कर पारिवारिक और सामाजिक हित को प्रधानता देनी चाहिये। अपने सुख की दृष्टि से कुछ मत करो। परहित की दृष्टि से जो कर सकते हो सो करो। लेकिन चौबीसों घण्टों का समय करने ही के लिए मत रखो। कुछ समय न करने के जीवन में निवास करने के लिए रखो। यहाँ तक तो वैज्ञानिक सत्य था। अब दार्शनिक सत्य पर आइये।

अहं में अंकित हुआ प्रवृत्ति का जो राग है, वह कुछ-न-कुछ करने के संकल्प का रूप धारण करके सूक्ष्म शरीर के माध्यम से मन में उदित होता है। जब उसके वेग को हम लोग रोक नहीं सकते, तो क्रिया में लग जाते हैं। अब इसके विपरीत हमको चलना है। करने का यन्त्र है। इस

यन्त्र को चालित करके पर-हित की भावना से प्रभावित हो कर, सही प्रवृत्ति में कुछ समय लगा दीजिये। लेकिन प्रत्येक सही प्रवृत्ति के बाद कुछ समय अपनी सहज निवृत्ति के लिए जरूर रखिये। क्या होगा उसमें? उसमें आपको पता चलेगा कि इतने दिन तक जो मैंने धूम-धाम मचाई, जी-तोड़ परिश्रम किया और इसमें बड़ा सुख माना, यह सब जो मैंने किया, इसके बदले में विश्राम की योग्यता मुझमें आई कि नहीं? किसी-किसी व्यक्ति की परिस्थिति कुछ ऐसी होती है कि उसको इच्छा से और शक्ति से अधक काम करने की जरूरत पड़ जाती है। वह सोचता है कि मुझ को तो इतना काम करना पड़ रहा है कि विराम ही नहीं मिल रहा है। लेकिन आप समय बचा करके थोड़ा-थोड़ा समय विश्राम के लिए रख कर देखिएगा, तो आपको पता चलेगा कि परिस्थितियाँ तो विराम *Allow* करती हैं, विश्राम का अवसर देती हैं, पर अपने में योग्यता नहीं है विश्राम में रहने की। इसलिए थोड़ा-थोड़ा समय विश्राम-सम्पादन के लिए रखना चाहिये। काम करने के बाद कुछ देर के लिए शान्त रह कर सहज निवृत्ति का आनन्द लेना चाहिये।

इसमें दर्शनिक सत्य यह है कि जो अपने में है और जो नित्य विद्यमान है, उसकी अभिव्यक्ति श्रम से नहीं होती है, विश्राम से होती है। और व्याख्या करूँ मैं कि श्रम-काल में शरीरों से तादात्म्य तोड़ना सम्भव नहीं है। श्रम केवल स्थूल अंगों से ही नहीं होता, केवल कारक अंगों से नहीं होता। श्रम भीतर-भीतर चिन्तन के स्तर पर भी होता है। आपके सामने कोई कठिन समस्या आ गई, सुलझाने का कोई उपाय नहीं सूझता। सोचते-सोचते आप थक जाते हैं। तो चिन्तन के स्तर पर भी आदमी थकता है। कुछ साधक स्वभाव से ही उपजने वाले चिन्तन को रोकने की चेष्टा करते हैं। तो उपजने वाले चिन्तन को रोकने में भी आदमी थकता है। कुछ देर तक जोर जबरदस्ती करके रोकते हैं और उसके बाद फिर स्नायु ढीले हो जाते हैं। कुछ लोगों के सिर में भार लगने लगता है, कुछ लोगों

के सिर में दर्द होने लगता है, कुछ लोगों को तन्द्रा और निद्रा आ जाती है। यह सब मैंने सुना है। साधकों के जीवन की बात मैं कह रही हूँ। तो स्थूल कर्म से भी थकता है आदमी, सूक्ष्म चिन्तन की प्रवृत्ति में भी थकता है और चिन्तन को जबरदस्ती रोकने में भी थकता है। इस तरह से उसको थकावट आती है। इन सब थकावटों से आप अपने को बचाइयेगा तो एक बड़ा भारी उपकार आपका अपने पर होगा।

कर्म में जब तक लगे रहोगे, स्थूल शरीर का संग आप छोड़ नहीं सकते। चिन्तन में जब तक उलझे रहेंगे, सूक्ष्म शरीर का संग आप छोड़ नहीं सकते। व्यर्थ-चिन्तन को रोकने में जब तक लगे रहोगे, तब तक मन का संग आप छोड़ नहीं सकते। आप सभी समझदार लोग हैं। खूब सत्संग आपने सुना है। इस धारणा से मैं आपके सामने निवेदन कर रही हूँ कि आप स्वयं इस बात का फैसला कीजिए कि जब तक स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर, किसी स्तर पर, शरीरों का संग छोड़ नहीं सकेंगे, तब तक क्या अशरीरी जीवन का अनुभव होगा? जी? नहीं होगा।

हम लोग अशरीरी जीवन के अनुभव के लिए चिन्तन में लगे हैं, कि चिन्तन-रहित होने की साधना कर रहे हैं? मैं अमर आत्मा हूँ, मैं अमर आत्मा हूँ, मैं अमर आत्मा हूँ। अरे भाई, अमर आत्मा हो, इसमें तो किसी को कोई सन्देह हो ही नहीं सकता। लेकिन अमर आत्मा हूँ—इस चिन्तन से भी जब छूटोगे, तब जिसका चिन्तन कर रहे हो वह तुम्हारा जीवन बन जाएगा। ठीक है? तो जीवन का दार्शनिक सत्य क्या है? श्रम किया जाता है—विश्राम के लिए और विश्राम में रहा जाता है—अविनाशी जीवन की अभिव्यक्ति के लिए। हमारी सारी जिन्दगी की दौड़-धूप जो है, वह कहाँ जाकर खत्म होनी चाहिये? अविनाशी जीवन की प्राप्ति में। उसके लिए केन्द्र क्या होगा, किस बिन्दु पर जाकर हम सारी प्रवृत्तियों से मुक्त होंगे? विश्राम के लिए। सारा श्रम हमारा किस दृष्टि से होना चाहिये?

कि मुझ में विश्राम में रहने की योग्यता आ जाय।

इस पर संत की सलाह यह है कि सुख-स्वार्थ की दृष्टि से प्रवृत्ति में लगे रहोगे, तो राग-निवृत्ति होगी नहीं। भीतर में करने की जो क्षमता है उसको खर्च करना जरूरी है, लेकिन सुख-स्वार्थ की दृष्टि को छोड़कर पर-हित की दृष्टि से प्रवृत्ति करोगे, तो करने का राग मिट जायेगा, और राग-रहित जीवन में योग की अभिव्यक्ति होती है। राग और योग—ये दोनों एक-दूसरे के विपरीत हैं। राग रहेगा, तो योग का आनन्द नहीं मिलेगा। राग मिट जायेगा, तो सहज भाव से आप योगवित् हो जायेंगे। जो योगवित् हो जाता है वह तत्त्ववित् हो जाता है। जो तत्त्ववित् हो जाता है वह भगवद् भक्त हो जाता है। उसके बाद कोई प्रयास शेष नहीं रहता। यह दार्शनिक सत्य हो गया।

तीसरी बात बताई महाराज जी ने आस्तिकता का तत्त्व। वह भी मनुष्य के जीवन का अनिवार्य पहलू है। उसके बिना किसी भी मनुष्य का व्यक्तित्व पूरा होता ही नहीं। किसी भी स्तर का मनुष्य हो, अगर उसके व्यक्तित्व को ले कर आप उसका विश्लेषण करेंगे तो उसमें श्रद्धा, भक्ति, विश्वास, प्रेम का तत्त्व जरूर मिलेगा। एक यह भी आवश्यक बात है, जिस पर हम लोगों को विचार कर लेना चाहिये। उसमें क्या है? कि जो आपके भीतर भाव-पक्ष है श्रद्धा-विश्वास का तत्त्व है, उसको विकसित कैसे किया जाय। तो उसके लिए महाराज जी बताते हैं कि प्रभु को समर्पित हुए बिना अखण्ड स्मृति और प्रियता जाग्रत नहीं होती।

उनके समर्पित हो जाओ। उनको अपना मानो। उनसे अपना नित्य सम्बन्ध मानो। जिससे अपना नित्य सम्बन्ध मानते हैं, वह अपने को प्यारा लगने लगता है। और जो अपने को प्रिय लगने लगता है, उसकी स्मृति जाग्रत हो जाती है। परमात्मा के लिए मेरे भीतर अखण्ड स्मृति और प्रियता

उदित हो जाय, तो इसी का नाम भजन है इसी का नाम भक्ति है। परमात्मा की प्रियता और स्मृति तत्त्व परमात्मा के समान ही अविनाशी तत्त्व है। परमात्मा की स्मृति परमात्मा के समान ही अनन्त प्रियता प्रदान करने वाली है। इसलिए स्मृति और प्रियता जब मनुष्य के अहं में उदित होती है, तब फिर उसे कोई नया प्रयास नहीं करना पड़ता, नई साधना नहीं करनी पड़ती।

अपने में जो स्वयं प्रेमस्वरूप ही है, उसकी प्रियता से रोम-रोम भरपूर हो जाता है। उसकी प्रियता से अहं का गठन-रक्षण, पालन-पोषण सब हो रहा है। लेकिन दृश्य जगत् की ओर देखने के कारण उसकी उपस्थिति की मधुरता का स्वाद कभी नहीं आता। उस प्रेम स्वरूप, जीवन के आधार, उस परम प्रेमास्पद प्रभु को अपना मानकर उसके प्रति प्रेम भाव का अर्पण करना मेरी साधना है, मेरा जीवन है-ऐसा स्वीकार करके जिसने उनको अपना मान लिया और अपने को उनके समर्पित कर दिया, उसमें अखण्ड स्मृति और प्रियता जाग्रत हो गयी।

एक बार स्वामी जी महाराज के पास एक युवक आया। यह इलाहाबाद की बात है। कुम्भ के मेले में महाराज जी ठहरे हुए थे। सत्संग हो रहा था। वह युवक कहने लगा कि बाबाजी! आप मुझको भगवान् दिखा सकते हैं? स्वामी जी ने कहा कि हाँ, मैं दिखा सकता हूँ। तो बताइये कहाँ है? स्वामीजी ने कहा तुम्हारे पीछे हैं। वह युवक पीछे देखने लगा। कहने लगा, यहाँ तो कोई नहीं है महाराज। स्वामी जी ने कहा—भैया तुमने पीछे कहाँ देखा? तुम तो सामने देख रहे हो। परमात्मा तुम्हारे पीछे है, तुम पीछे देखो तो तुम्हें परमात्मा दिखाई दे। तुम तो पीछे देख ही नहीं रहे हो। तुम तो सामने देख रहे हो। वह तो तुम्हारे पीछे ही खड़ा है।

इस सम्बन्ध में बड़ा बढ़िया सूत्र बताया है महाराज जी ने—जब तक संसार को पसन्द करते हैं, परमात्मा हमारे पीछे रहता है और जब हम उसको पसन्द करते हैं, तब वह हमारे सामने रहता है। अर्थ क्या निकला?

कि जब तक बाहर-बाहर कुछ देखना, कुछ सुनना, कुछ बोलना, कुछ करना पसन्द आ रहा है मुझे, तब तक मैं उससे विमुख हूँ। उसके विपरीत दिशा में देख रही हूँ, इसलिए उसका पता ही नहीं चलता। लेकिन जब ये बाहर की बातें नापसन्द हो जाती हैं, तो दिखने पर भी इनका प्रभाव नहीं होता है, सुनने पर भी इनका कोई असर नहीं होता है। जब हम स्वयं अपने को अपने अन्दर देखना पसन्द करते हैं, बाहर से अपने को विमुख कर लेते हैं, तो आँखें खुली रहेंगी, दृश्य-जगत् दिखाई देगा, लेकिन आपका उससे लगाव नहीं रहेगा। तब क्या होता है? जब अपना प्यारा, अपना प्रेमास्पद, अपने जीवन का आधार जो मुझ में विद्यमान है, उसकी याद आने लगती है, तो सारी वृत्तियाँ 'अहम्' के साथ मिल कर उसमें जाकर समाहित हो जाती हैं। बड़ा आराम मिलता है, बहुत शान्ति मिलती है, बड़ा आनन्द आता है।

स्मृति शब्द का प्रयोग स्वामी जी महाराज ने केवल परमात्मा की स्मृति के लिए ही किया है। बाहरी बातों के लिए नहीं। क्योंकि इस शब्द का बड़ा भारी अर्थ उन्होंने बताया कि देखो, अगर संसार की कोई वस्तु तुम्हें चाहिये और उसकी याद तुम्हें आई, वह वस्तु तुमसे बहुत दूर है, उसको पाने के लिए काल अपेक्षित है। परिस्थिति बनेगी, तब मिलेगी। इसलिए अगर वस्तु की याद आती है, तो मनुष्य को भीतर अभाव सताता है, बेबसी सताती है, पराधीनता आ जाती है। लेकिन जो तुम्हारे ही में विद्यमान है और तुमसे भी अधिक तुमको अपनाने के लिए लालायित है, उसकी स्मृति जब आती है, तो वह नित्य विद्यमान परमात्मा तत्काल ही अपनी विभूतियों से, अपने सान्निध्य से तुमको भर देता है। देर नहीं लगती है। परमात्मा से मिलन के लिए, जन्म-जन्मान्तर के अभाव को मिटाने के लिए अखण्ड स्मृति और प्रियता अनिवार्य तत्त्व है।

अखण्ड स्मृति और प्रियता जाग्रत कैसे होती है? 'उनको' अपना

मानने से, और उनको समर्पित होने से। जिन्होंने उनको अपना मान लिया, उनमें स्मृति जाग्रत हो गई। जिन्होंने अपने को उनके समर्पित कर दिया, उनमें उनका आश्रय आ गया, उनमें उनकी सामर्थ्य आ गई। उनको उनकी उपस्थिति का अनुभव हो गया। उनको उनके प्रेम की मधुरता का स्वाद मिल गया और वह बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ जाता है कि अगर मैं प्रभु-विश्वासी हूँ, मुझे प्रभु का प्रेम चाहिए, मुझे प्रभु-सान्निध्य चाहिये, उनके मधुर रस का आस्वादन चाहिए तो प्रभु-प्रेम की प्यास के रूप में जो अहं है, जिसमें से सब कामनायें निकल चुकी हैं, वह सम्पूर्ण अहं ही प्रभु की प्यास और प्रभु की स्मृति बन जाता है। उसमें बड़ा आनन्द छा जाता है। उसकी सीमा समाप्त हो जाती है। विश्राम मिल जाता है। स्वयं प्रेम स्वरूप ही हो जाता है। यही ईश्वर-विश्वासी साधक की उपलब्धि है, सर्वोच्च उपलब्धि है। यही उसकी सिद्धि है।

हम सभी भाई-बहिन जो यहाँ बैठे हैं उनको यह उपलब्धि चाहिये, कि नहीं चाहिए? इसके अलावा और कुछ चाहिये? यह बात सच्ची है कि अगर मैं ईश्वर-विश्वासी हूँ तो मेरे अहं में सिवाय प्रभु-प्रेम की प्यास के और कोई कामना, कोई ममता नहीं रहनी चाहिए। अभी तक अगर इस प्रेम-रस से छक जाने की घड़ी इस जीवन में नहीं आई तो इसका मतलब है कि मैंने और भी सम्बन्ध बना रखे हैं, और भी कुछ चाहती हूँ। यह उसका अर्थ निकलेगा।

अगर ऐसी दशा अपनी है, तो लाज-शर्म की बात नहीं है, एक-दूसरे से छिपाने की कोई बात नहीं है। क्योंकि जीवन का जो सत्य है, उसी का दर्शन ही तो हमको आगे बढ़ाता है। इसलिए मैं निवेदन करती हूँ कि अकेले-अकेले बैठ करके अपने को देखना, और अगर ऐसी कोई बात मालूम हो, तो उसी सामर्थ्यवान का सहारा लेकर उस बात को त्याग देने के लिए कटिबद्ध हो जाना। मुझे और सम्बन्ध नहीं रखना है, मुझे और

कोई कामना नहीं रखनी है, मेरा सम्पूर्ण अहं प्रभु-प्रेम की प्यास के रूप में ही रह जाय। ऐसी अभिलाषा उस प्रभु की करुणा को द्रवित करने के लिए पर्याप्त हैं। आप में ऐसी अभिलाषा है, उनमें करुणा है, काम बन जायेगा। कोई दिक्कत नहीं होगी। इस मूल बात को स्वामी जी महाराज ने हम लोगों के सामने रखा और कहा कि भाई, उनको अपना माने बिना और उनको समर्पित हुए बिना अखण्ड स्मृति जगेगी नहीं, प्रियता उदित होगी नहीं। तो तीन बातें उन्होंने कही—अकिंचन और अचाह हुए बिना शान्ति मिलेगी नहीं, दूसरों के काम आये बिना करने का राग मिटेगा नहीं अर्थात् जीवन-मुक्ति नहीं मिलेगी और प्रभु को अपना माने बिना, उनको समर्पित हुए बिना अखण्ड स्मृति और प्रियता जगेगी नहीं अर्थात् भक्ति नहीं मिलेगी।

••••••

सन्त-वाणी

अधिकार लालसा से शून्य कर्त्तव्य 'न्याय' को प्रेम' में विलीन करता है।

❖❖❖

सिक्के से वस्तु और वस्तु से श्रम को अधिक महत्त्व देना अनिवार्य है। इस नीति से संघर्ष का नाश होगा।

प्रवचन 10

सत्संग-प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

हम सबको जीवन में विश्राम चाहिए। विश्राम हमारे जीवन की मौलिक माँग है। विश्राम हम सभी भाई-बहनों को अभीष्ट है और विश्राम में ही जीवन का सर्वोत्तम विकास सम्भव है। इसलिए आज प्रातःकाल की बैठक में हम लोग इस अत्यन्त आवश्यक तथ्य पर विचार कर लें। शरीर के साथ मिलकर समाज और परिवार का काम करते हुए भी हम सब लोग विश्राम की आवश्यकता अनुभव करते हैं। शारीरिक और मानसिक थकान के समय भी हम सब लोग विश्राम की आवश्यकता अनुभव करते हैं। शरीर विज्ञान और मनोविज्ञान के अध्ययन के आधार पर इस बात का पता चलता है कि प्रवृत्तिकाल में भी हम थोड़े-थोड़े समय के बाद विश्राम लिया करते हैं। इसके अलावा हम लोगों के शरीर में प्राकृतिक ढंग का ऐसा नियम बना हुआ है कि जिससे शरीर के मस्तिष्क के सूक्ष्म-अति-सूक्ष्म स्नायु जो हैं, उनके कार्यों में स्वतः विश्राम *(Automatic Rest)* हुआ करता है। अपने आपसे मेरे दिए बिना ही अपने अन्दर से शरीर के अवयव विराम ले लिया करते हैं। अपने को पता भी नहीं चलता है। ऐसा मालूम होता है कि हम उसी गति *(Speed)* से काम करते चले जायेंगे। परन्तु प्रयोग के आधार पर इस बात का पता चलता है कि आपने अपनी ओर से विराम नहीं लिया, तब भी शरीर के स्नायु और मस्तिष्क के स्नायु अपने आप से विराम ले लेते हैं। यह प्रकृति का विधान ही है।

सन्त की वाणी में दार्शनिक दृष्टिकोण से भी इस बात का पता चला कि भाई, प्रत्येक गति का आरम्भ शांति में से हो होता है और सब प्रकार की गतियों का विलय भी शान्ति में ही होता है। जिस शान्ति में से प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, उसी शान्ति में जाकर वह प्रवृत्ति खत्म होती है। मूल में अगर शान्ति न हो, तो प्रवृत्ति आरम्भ ही नहीं हो सकती, चल ही नहीं

सकती। तो दार्शनिक दृष्टिकोण से भी यह बात सही है कि विश्राम और शान्ति एक अनिवार्य तत्त्व हैं जो बीज रूप से हम लोगों के जीवन के मूल में विद्यमान हैं। अपनी भूल से हम लोग उस विश्राम से वंचित हो गये हैं। अब सत्संग के प्रकाश में उस विश्राम के सम्पादन की चर्चा कर रहे हैं कि हमें विश्राम चाहिए। किसलिए चाहिए? स्थूल और सूक्ष्म शरीरी और अशरीरी, सब प्रकार की शक्तियों के विकास के लिए विश्राम चाहिए। लौकिक और अलौकिक सब प्रकार के विकास के लिए विश्राम चाहिए। यदि विश्राम नहीं मिलता है, तो इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण है—नीरसता। मनुष्य अपने जीवन में अपने को नीरस-नीरस अनुभव करता है। उसके मस्तिष्क में बहुत हलचल रहती है, उसे कहीं अच्छा नहीं लगता। तब जीवन को सरस बनाने के लिए वह बाह्य जगत् का सहारा लेता है। अच्छी जगह घूमना, मित्रों से मिलना, होटल में खाना, पिक्चर जाना आदि उपाय करता है। यह मनुष्य की बड़ी भारी भूल है। परिस्थितियों का सहारा लेकर जीवन को सरस बनाने के लिए जितना ही सुख भोगने का प्रयास करो, उतना ही जीवन का रस-स्रोत क्षीण होता चला जाता है। मिल गया तो दुःख, न मिला तो दुःख। मनुष्य के जीवन का स्तर ही नीचे चला जाता है। सच्चिदानन्द स्वरूप का अंश होते हुए भी जब वह अपने रस के लिए, अपनी खुशी के लिए पराश्रय को स्वीकार कर लेता है, तब उसका मूल्य घट जाता है। व्यक्ति भीतर से गरीब होता चला जाता है। ऊपर-ऊपर से अपने को एक बड़प्पन का मिथ्य अभिमान लेकर दूसरों के सामने कुछ विशेष प्रकट करके की चेष्टा करता रहता है। बड़ी दयनीय दशा है।

किसी समय मैंने भी अभाव की पीड़ा को अनुभव किया था और नीरसता से मेरे भीतर-भीतर जो कमी महसूस होती थी, उससे मुझे अपने आप में बड़ा अपमान महसूस होता था। कैसा जीवन है यह! किसी तरह से सन्तुष्ट नहीं होता। अपनी भूल तो मालूम नहीं होती थी मुझको। बनाने

वाले परमात्मा पर मैं बिगड़ जाती कि कैसा जगत् तुमने रच के रख दिया है? किसी तरह सन्तुष्टि ही नहीं है। किसी तरह से प्रसन्नता ही नहीं है। जब सन्त के पास आकर मैं बैठी, तो मुझे मानव-जीवन के भीतर की नीरसता का बड़ा मूल्य मालूम हुआ। मैं परमात्मा को धन्यवाद देने लगी कि बड़ा अच्छा किया तुमने जो असत् के संग में मिलकर रहने में मुझे सन्तुष्ट नहीं होने दिया। बड़ा उपकार किया तुमने कि किसी प्रकार सन्तुष्टि नहीं होने दी। क्या कारण है उसमें? रसस्वरूप जो हमारे जीवन का उद्गम है उससे विमुख हो जाओ, तो भीतर-भीतर नीरसता रहेगी ही। लेकिन बड़ी भारी भूल होती है मनुष्य से कि जब उसके भीतर नीरसता सताती है तो वह सोचता है कि दूसरे के जैसा बढ़िया मकान मेरे पास नहीं, इसलिए नीरसता है। कोई सोचता है कि जैसी सन्तान मुझको चाहिए थी, उतनी सुयोग्य, आज्ञाकारी सन्तान मेरे पास नहीं है, इसलिए नीरसता है। कोई सोचता है कि शारीरिक स्वास्थ्य अच्छा नहीं है इसलिए नीरसता है और कोई सोचता है कि अच्छा पद नहीं मिला इसलिए नीरसता है। आदमी भूल जाता है कि उसके भीतर जो कमी महसूस हो रही है वह तो उस परम प्रेमास्पद परम हितचिंतक का निमन्त्रण है कि भैया, तू रस कहाँ खोज रहा है? रस तो मेरे पास है। आ, मैं तुझे तृप्त करूँ।

हमारे साथ रहने वाले साधक, साधिकायें जब अपने साथियों से अपनी परिस्थितियों से असन्तुष्ट होकर शिकायत करने लग जाते हैं, तो मैं उनको याद दिलाती हूँ कि देखो भाई, तुम्हारे डिजाइन *(Design)* की सृष्टि बनेगी नहीं। जिसने बनाया है वह बहुत ही ज्ञानवान है, सर्वज्ञ है और हम लोगों का परम हितकारी है। उसने जो टेढ़ा-मेढ़ा बनाकर तुम्हारे सामने खड़ा किया है न, वही तुम्हारे लिए बहुत हितकारी है। बुरा मत मानो। अपने डिजाइन की दुनियाँ मत खोजो। मिलेगी नहीं कहीं। जैसी मिली है उसी में अच्छाई देखने की कोशिश करो, तो तुम्हारा दुःख मिट जायेगा।

और सृष्टि अगर तुमको पसन्द आये, तो मेरी तरह आनन्दित हो करके सृष्टिकर्ता को मुबारकबाद देना। मैं तो कह देती हूँ कि हे सृष्टिकर्ता ! यह सृष्टि आपको मुबारक हो, आप ही जानो बाबा। तुम्ही रखो, सम्हालो। हमको तो छुट्टी दिलाओ। ऐसे आप भी कह देना।

भूल जाता है आदमी कि उसका अपना मूल्य क्या है? वह तो अमर जीवन का अधिकारी है। वह तो प्रेमस्वरूप परमात्मा का लाड़ला दुलारा बालक है। वह तो उस निजानन्द में, योगानन्द में, ब्रह्मानन्द में, प्रेमानन्द में मस्त रहने का अधिकारी है। तो यह सब तो हमारा-आपका जन्म सिद्ध अधिकार है, यह तो हमारा स्वरूप ही है। उस पर दृष्टि नहीं जाती, तो हम चेतन हो करके जड़ का सहारा लेकर आन्तरिक नीरसता को मिटाना चाहते हैं। हमारे परम हितैषी मंगलकारी विधाता की योजना ऐसी है कि वे कहते हैं कि हम तुम को इसमें फँसने ही नहीं देंगे। तो चैन नहीं लेने देते हैं, फँसने नहीं देते हैं।

श्री अखण्डानन्द जी महाराज ने एक जगह पर लिखा है कि परमात्मा ने मनुष्य को बनाया और बहुत सुन्दर ढंग से संसार को सजाया। सजा-धजा कर बढ़िया बना कर उसमें आदमी को भेजना आरम्भ किया, तो मनुष्य डरने लगा कि हे पिता ! हमें तो बड़ा डर लगता है। भगवान् ने पूछा कि पुत्र डरते क्यों हो? तो मनुष्य ने कहा कि हे पिता ! डर तो इस बात का है कि आपकी माया-रचित लुभावनी-सुहावनी सृष्टि उसमें जा करके अगर मैं भूल गया, खो गया तो आपके पास वापिस जैसे आऊँगा? तो परमात्मा ने कहा कि हे पुत्र, डरो मत ! डरने की कोई बात नहीं है। हम तुम्हारी जन्मपत्री में लिख देते हैं कि जब तक मेरे पास वापिस लौटकर आओगे नहीं, कहीं तुमको चैन नहीं मिलेगा। बड़े आनन्द की बात है। बहुत बढ़िया बात है। यह तो संत की शरण में बैठने के बाद मुझको पता चला। सचमुच हम लोगों के भीतर जो नीरसता सताती है, उसका कोई बाहरी कारण नहीं

है। और बाहर के किसी उपादान से आप भीतर की नीरसता, जो ऐसा लगता है कि बनावट में ही भरी पड़ी है, उसको मिटाना पसन्द करेंगे, तो कभी भी मिटा नहीं पायेंगे। और बाहरी सहारे, पराश्रय, पराधीनता और परिश्रम से मिलने वाले सुखों के द्वारा मनुष्य अगर अपनी नीरसता को मिटाना पसन्द करता है तो कभी उसको सफलता नहीं मिलती है। उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती है। आगे चल करके मस्तिष्क की हालत इतनी खराब हो जाती है, इतनी दुर्बलता और चंचलता भर जाती है कि प्राप्त सामग्री का सुख भी वह नहीं ले पाता।

विदेश की एक महिला हमारे विश्वविद्यालय में आई थीं। लड़कियों से और स्टाफ से मिलना पसन्द किया उन्होंने। तो हम लोग भी मिले। लड़कियों ने पूछा कि आपके यहाँ महाविद्यालय, विश्वविद्यालय का क्या ढाँचा है और छात्राओं को क्या-क्या सुविधायें मिलती हैं? तो उन्होंने खूब तारीफ की और कहा—हमारी लड़कियाँ तो खुले वायुमण्डल में स्वतन्त्र पक्षियों की तरह चहकती रहती हैं और हर एक विभाग के लिए मोटरें हैं। कोई विद्यार्थी किसी लाईब्रेरी में जाय, कुछ भी सामान चाहे, कोई भी किताब चाहे, सब खुला है, ले आते हैं, पढ़ते हैं, बैठते हैं। पार्क बना है, स्वीमिंग पूल बना है। उन्होंने तैरने के तालाब की खूब तारीफ की। हमने पूछा कि लड़कियों के बौद्धिक और शारीरिक विकास की इतनी सुविधायें हैं, इतनी स्वाधीनता है और इतने सामान हैं, तो इन सारी सुविधाओं को लेकर के जीवन के विकास के रास्ते में आपके विद्यार्थी जाते हैं? किस तरह से वे लोग जीवन को ऊँचा उठाते हैं? जैसे ही उन्होंने यह प्रश्न सुना, वे एकदम गम्भीर हो गयीं और कहने लगीं—*freedom freedom, they are mad with freedom. They do not know what to do with freedom.* स्वतन्त्रता, स्वतन्त्रता! वे लोग स्वतन्त्रता से पागल हैं, वे नहीं जानतीं कि इस स्वतन्त्रता को लेकर वे क्या करें!

मनुष्य के व्यक्तित्व पर से सत्य का अनुशासन हट गया, धर्म का अनुशासन हट गया, समाज की मर्यादा का कोई बन्धन नहीं रहा, तो वह फ्रीडम नहीं है, स्वतन्त्रता नहीं है। जब किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं होता, तो उसका परिणाम क्या होता है कि मस्तिष्क इतना गतिशील हो जाता है, इसमें इतनी थकान आ जाती है, इतनी दुर्बलता आ जाती है, इतनी असमर्थता आ जाती है कि व्यक्ति को पता ही नहीं चलता है कि कहाँ से कहाँ पहुँच गया है। क्या उसकी दशा हो गई है! अपने को सम्हालने में बिल्कुल असमर्थता आ जाती है। तो अर्थ क्या निकला? अर्थ यह निकला कि भीतर में, अपने में वह जीवन तत्त्व है कि जिसकी हम सब लोग आज आवश्यकता अनुभव करते हैं। अगर उसकी ओर दृष्टि नहीं है और भीतर की नीरसता का नाश बाहर की वस्तुओं की सहायता से करना चाहते हैं, तो कभी सफलता नहीं मिलेगी। मैं तो इस बात को बहुत ही अच्छा मानती हूँ कि जिन लोगों के सामने कामनाओं की पूर्ति की परिस्थितियाँ ज्यादा अच्छी नहीं रहती है वे भाग्यशाली हैं, प्रभु की कृपा के पात्र हैं, कि उनके भीतर चेतना रहती है, सजगता रहती है, संयम रहता है। कुछ खुशी से, कुछ मन मार के, किसी तरह से अपने को रोकथाम कर रखते हैं। नहीं तो खुली छूट दे दी, तो पता नहीं क्या होगा!

यह बिल्कुल वैज्ञानिक स्तर की बात है, कोई ऊँची दार्शनिक बात नहीं है। अगर बहुत अधिक संकल्प-पूर्ति के सुख में आदमी फँस जाय, तो मानसिक स्वास्थ्य सुरक्षित नहीं रह सकता है। दूसरी बात जीवन नीरस किसको लगता है? जिसको अपने लक्ष्य की पूर्ति में संदेह हो, जिसको अपने लक्ष्य की पूर्ति में अपने में असमर्थता मालूम होती हो, निराशा रहती हो, उसका जीवन नीरस रहता है।

मनुष्य यदि इस बात को अच्छी तरह से जानता है कि संसार का कोई भी दृश्य सदा के लिए मेरे साथ नहीं रहेगा, तो वह दृश्यों पर भरोसा

नहीं करेगा। और यह सहारा लेने के लायक नहीं है, ऐसा जान करके तन का, धन का, परिवार का, संगी-साथियों का सबका सहारा छोड़ देता है, तो उसके भीतर आसक्ति नहीं रहती है। जो अपने ही में विद्यमान अविनाशी की अभिव्यक्ति को अपना खेल बना लेता है, उसमें भी नीरसता नहीं रहती है। क्यों नहीं रहती है कि उधर कोई असफल होने का प्रश्न ही नहीं है। और असत्य के संग को छोड़ा नहीं, कि सत्य की अभिव्यक्ति हो गयी। अपने को कुछ करना नहीं पड़ता। सारा पुरुषार्थ किस बात में है? कि नहीं को अस्वीकार करो। सारा पुरुषार्थ किस बात में है? कि 'है' को स्वीकार करो। तो 'नहीं' को अस्वीकार किया, तो सब असाधन चले गये।

असाधन चले गये, तो चित्त बिल्कुल शान्त, शुद्ध और सरस हो गया। 'है' को स्वीकार करो, तो 'है' की अभिव्यक्ति हो गयी। और 'है' प्रकट हो गया तो रस ही रस है, आनन्द ही आनन्द है। नीरसता का कहीं पता ही नहीं है। नीरसता का नाश हो जाता है। और अन्तिम बात है—प्रेम की अभिव्यक्ति। यह अन्तिम बात है। उसमें जो रस की वृद्धि आरम्भ होती है, तो कभी रुकती नहीं है। उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती है। हर अनुभव में वह नया-नया आनन्द देने वाला होता चला जाता है। तो किसी अवसर पर आप अपने को कुछ बलिष्ठ अनुभव करते हैं, कुछ समर्थ अनुभव करते हैं। किसी घड़ी में आप अपने को असमर्थ अनुभव करते हैं। तो असमर्थता के आने पर अगर आप दीन हो जाएँ, तो भी भीतर में नीरसता आ जायगी, और सामर्थ्य के अनुभव करने से आप अपने को बलवान समझें, तो उस अभिमान से भी हृदय कठोर बनता है और नीरसता आ जाती है। न दीन बनो, न अभिमानी बनो। परिस्थितियों को महत्त्व मत दो। अनुकूल आ जायें तो समझो कि मुझको सेवा का अवसर दिया गया है विधान से। मुझे उदार बनाने के लिए परिस्थिति आ गई है। तो अलग खड़े रहना, उससे अपने को जोड़ना नहीं। जो भी अनुकूलता आपके सामने

आ जाये—पद से, अधिकार से, सम्पत्ति से, शरीर से, समाज के सहयोग से, उसको जल्दी बाँट देने की चेष्टा करना। तो आई हुई अनुकूलता भी आपके रास्ते में कोई बाधा नहीं डालेगी। तो नीरसता मिटाने का एक यह भी उपाय है कि परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि स्वीकार मत करो अर्थात् परिस्थितियाँ जीवन नहीं हैं। जीवन की जो साधना है उस साधना की सामग्री है। तो नीरसता कभी नहीं आवेगी।

फिर एक कदम और आगे चलिए और सोचिये—मेरा अपना स्वरूप क्या है? अशरीरी मेरा स्वरूप है, अविनाशी मेरा स्वरूप है, आनन्दमय मेरा स्वरूप है—ऐसा कहो अथवा ऐसा कहो कि नित्यानन्द से मुझे अभिन्न होना है, परमानन्द से अभिन्न होना है। उस जीवन से अभिन्न होने की तीव्र उत्कण्ठा जीवन में जग जाती है, तो नीरसता का नाश हो जाता है। फिर नीरसता नहीं रहती। बड़ा सरस हो जाता है जीवन। बहुत रसमय हो जाता है।

फिर उसके आगे—भक्त बनिये। तो परम प्रेमास्पद परमात्मा को आपने अपना इष्ट बनाया। उनके होकर रहना पसन्द किया, उनकी प्रसन्नता के लिए सृष्टि की सेवा को पसन्द किया। ऐसा जिसने पसन्द किया, उसके जीवन में से भी नीरसता का नाश हो जाता है। कई अवसरों पर मैंने ऐसा पाया है कि जगत् दिखाई देता है अपने को, तो उसका मिथ्या कहने का कोई अर्थ नहीं है। मिथ्या क्यों कहें? दिखाई देता है मुझे। तो ईश्वरवाद की दृष्टि से अगर जगत् दिखाई देता है, तो देखे हुए जगत् को प्यारे प्रभु की फुलवारी मान कर, पुष्प वाटिका मान कर उसकी सेवा में अपने को लगाइये। तो प्रभु की सेवा में सृष्टि की पूजा—ऐसा करने वाले जो ईश्वरविश्वासी साधक होते हैं, उनके भीतर सेवा-काल में भी रह रह के प्यारे प्रभु की ओर से प्रेम की लहरियाँ उठती रहती हैं। कार्य करते-करते भी एक समय ऐसा प्रेम उमड़ता है कि काम थोड़ी देर के लिए रुक जाता

है। करने वाला अपने को भूल जाता है। प्रभु की सृष्टि और प्रभु का प्यार अपने को अभीष्ट है, तो यह सृष्टि अपने को खट्टी कैसे लगेगी? कड़वी कैसे लगेगी? तीखी कैसे लगेगी? यहाँ काँटे कैसे चुभेंगे? यह प्यारे के प्यार का प्रसार है न! तो इसकी सेवा करने चलो, तो बीच-बीच में ऐसी ही प्रेम की लहरियाँ आती रहती हैं। और वह प्रभु-प्रेम एक अचूक औषधि है। प्रभु-प्रेम का रस जो है वह व्यक्ति को तीनों तापों से छुड़ाने के लिए अचूक औषधि है। सब प्रकार की विकृतियों का नाश उस परम प्रेम के रस से होता है। थोड़ी देर के लिए भी उस रस का प्रभाव आपके जीवन पर हो जाय, तो भीतर से, बाहर से सब तरफ से इतना मीठा-मीठा जीवन हो जाता है कि उसमें से निकलना भी अपने को पसन्द नहीं आता।

लोग कहते हैं कि काम करने से थक गये, अब थोड़ा सा मनोरंजन करो, तो थकावट चली जाय। लोग अपने को बहुत समझदार समझते हैं और सोचते हैं कि 6 घण्टे काम करने के बाद एक घण्टा मनोविनोद का समय होना चाहिये। अरे भैया, मन को विनोद देने में भी तुम प्राणशक्ति गवाँ ही तो रहे हो। देहबुद्धि में जिन्होंने जीवन स्वीकार किया, उनको देह के ऊपर कुछ सूझता ही नहीं है। और सच पूछो तो जीवन में आनन्द का भण्डार, देह से ऊपर ही शुरु होता है। देह में कहीं कुछ है ही नहीं आनन्द जैसा तत्त्व। तो भीतर-भीतर यह भाव बढ़ता चला जाता है। प्रभु-प्रेम की लहर आ करके अहं रूपी अणु को कोमल बनाती जाती है, शुद्ध बनाती जाती है। उसके प्रभाव से मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर सब के सब स्वस्थ और बलिष्ठ होते चले जाते हैं और इतना आराम मिलता है, इतना आराम मिलता है कि उस रस के मिठास में सब प्रकार की गतियाँ जा करके डूब जाती हैं। आपने भी किसी क्षण में अनुभव किया ही होगा। और नहीं तो, उससे दूसरे दर्जे का अनुभव किया ही होगा कि आपका कोई प्रियजन है, उसकी चिट्ठी आ जाय, उसका कोई समाचार आ जाय,

वह मिलने आ जाय और देख करके आपका हृदय उमड़े। तो हृदय जब प्रेम से उमड़ता है, तो बोलने का मन होता है, कि आदमी चुप हो जाता है? तो गति बन्द हो जाती है।

मैंने भागवत पुराण में बड़ी अच्छी कथा सुनी थी कि प्रभास क्षेत्र में बहुत वर्षों के बाद सूर्य-ग्रहण का पर्व था, तो द्वारकापुरी से भी सब लोग आये थे स्नान करने तीर्थ में और ब्रज से भी सब लोग चले गये थे। महीने भर का पर्ववास होता है। तो दोनों दलों में इस प्रकार की सूचना तो फैल गयी थी कि अरे भाई, द्वारकापुरी के लोग भी आये हैं और इधर से ब्रज वाले भी आये हैं। तो खोजना चाहिये, कहाँ ठहरे होंगे, मिलना चाहिये, भेंट करना चाहिये। वासुदेवजी सोच रहे हैं कि भाई नन्दजी से मिलना चाहिये। सखी सहेलियाँ सोच रही हैं कि भाई, कृष्ण से मिलना चाहिये। कृष्ण की रानियाँ, पटरानियाँ, महारानियाँ सोच रही हैं कि भाई, उस राधिका का दर्शन जरूर करना चाहिये जिसके बारे में हम लोगों ने इतना सुना है। कृष्ण स्वयं ही राधे-राधे रटा करते हैं, तो चलो टेन्ट में कहीं खोजें, ढूँढें, भीड़-भाड़ में। कहीं उन लोगों का भी होगा ठहराव। जायेंगे, दर्शन करेंगे। तो आते रहे लोग दर्शन के लिए, घूमते रहे चारों ओर और कृष्ण भगवान् की प्रीतिरस से भीगी हुई गोपियाँ। उनमें गतिशीलता तो बहुत ही कम थी। स्नान करने जायेंगे कि कीर्तन में जायेंगे, दान करने जायेंगे, कि दर्शन करने जायेंगे-जाने की बात तो उठ नहीं सकती हैं। प्रीति उमड़ रही है हृदय में, तो चरण शिथिल हो गये। आँखें बन्द हो गयीं। अब जाए कौन? बात कौन करे? देखे कौन? खोजे कौन? तो वे पड़ी हुई हैं। लोग तो घूम घाम कर चले जाते हैं। तो, बहुत इन्तजाम करके एक दिन तैयार किया गया। राधाजी से कहा गया कि श्यामसुन्दर आये हैं और कल के लिए हम लोगों ने समय निश्चित किया है। चलिए, आपको दर्शन करायेंगे, मिलायेंगे। उधर कन्हैया जी से कहा गया कि

राधिका जी आई हुई हैं और उनसे हम लोगों ने समय निश्चित किया है। अमुक समय पर, अमुक जगह पर आयेंगी। चलिएगा, आपको मिलायेंगे। अच्छा सखाओ, अच्छा प्यारो, चलूँगा। तैयार हो गये। इधर से राधा जी गई, उधर से कृष्ण भगवान् आये। काफी दूरी से एक-दूसरे पर दृष्टि पड़ी। तो ऐसी सुन्दर बात वहाँ लिखी हुई है कि दोनों ने एक-दूसरे को देखा और प्रेम के भाव से ऐसे अभिभूत हो गये कि दूर ही दूर जहाँ-के-तहाँ खड़े हो गये। और एक-दूसरे को देखने के बाद, एक बार देखने के बाद न वे आगे बढ़ सके, न बोल सके, न दोबारा देख सके। तो आँख बन्द किये दोनों दूर-दूर खड़े हैं। और ऐसे ही खड़े-खड़े 24 घण्टे का समय निकल गया। प्रेम-समाधि लग गई अब भीतर में, अन्तर में, भक्त का भगवान् से मिलन हो गया, प्रेमी का प्रेमास्पद से मिलन हो गया। तो अब गति कहाँ से आयेगी ! गति समाप्त हो गयी। बहुत सरस कथा है। बहुत बढ़िया है और किसी न किसी समय आप लोगों ने सुना ही होगा। इसका विस्तार नहीं कर रही हूँ मैं। जो विषय आज मैंने उठाया है उसी के सम्बन्ध में एक मामूली-सा, थोड़ा-सा समय लगा करके उदाहरण रखा है। तो क्या कहना चाहती हूँ मैं ? तो कहना चाहती हूँ यह कि आप भाई-बहन जिसके भीतर भी विश्राम की आवश्यकता महसूस होती है, उसकी पक्की तौर से जान लेना चाहिये कि पवित्र प्रेम की वृद्धि के बिना पूर्ण विश्राम नहीं मिलेगा। चाहे एक दिन की थकावट समझो और चाहे इस जन्म की 60-70 वर्ष की थकावट समझो। थकावट बहुत दिनों की है।

सब प्रकार के श्रम से रहित आज भी वही चिर विश्राम, पूर्ण विश्राम व्यक्ति को कब मिलता है ? जब उसके भीतर उस परम पवित्र प्रेम तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। और मिल जाता है, तो फिर कुछ पूछो ही मत। बहुत आराम मिल जाता है। एक भक्त कहते हैं "काहू को बल भजन है, काहू को आचार। व्यास भरोसे कुँवरि के, सौवें पाँव पसार।"

किसी को भजन का बल है, किसी को आचार का बल है और भक्त जिनका नाम है व्यास, वे कहते हैं कि भैया, व्यास के पास तो न भजन का बल है, न आचार का बल है, यह तो अपनी कुंवरि के भरोसे पाँव पसार कर सोता है। उसको कुछ करना नहीं है। बड़ा विश्राम है हरि आश्रित हो जाने में।

दूसरा भक्त देखिए। और मजे की बात कहते हैं। कहते हैं—"माला जपूँ न कर जपूँ, मुख से कहूँ न राम। हरि मेरा सुमिरन करे, मैं पायो विश्राम"। हरि मेरा सुमिरन करें—कैसे हो रहा है भाई? एक दिन मैं बोल रही थी—स्वामी जी महाराज के पुराने परिचित मित्र संत लोग जो हैं, उनकी बड़ी कृपा है, बालक की तरह कृपा दृष्टि मुझ पर रखते हैं, प्यार करते हैं, आशीर्वाद देते हैं—स्वामी रामसुख दास जी महाराज बैठे थे। तो कहने लगे—"हरि मेरा सुमिरन करे"—इसका और विस्तार करो। उन्होंने याद दिलाया। मैंने कहा कि महाराज! लंका-विजय के बाद विभीषण को जब राजगद्दी दे दी गयी, तो बड़ी तैयारी करके वह आया कि महाराज! नगर में चलिए, स्नान कीजिये, युद्ध का श्रम दूर होगा और राज्य खजाना, सिंहासन, नगर सब आप ही का है, तो चल करके अपनी सेना के लोगों को बाँटिये। आनन्द मनायें। तो भगवान कहते हैं कि भैया, तू बिल्कुल सच कहता है विभीषण। तेरा जो कुछ है वह सब मेरा ही है। हमने कहा, दोनों तरह से सही है।

विभीषण ने कहा था कि सब आपका ही है। तो खाली विभीषण की लंका का राज्य थोड़े ही उनका है? वे तो त्रिभुवन के मालिक हैं। सच्ची बात बोलते हैं। वे सत्यवादी हैं, झूठ नहीं बोलते। तो वे कहने लगे, भैया विभीषण! तू सच कहता है कि यह सब मेरा ही है। लेकिन मैं क्या बताऊँ, एक-एक क्षण मेरा कल्प के समान बीत रहा है। भरत भैया की दशा को याद करके मुझे बहुत उसकी याद आ रही है। 14 वर्ष पूरे हो रहे हैं। अगर थोड़ी-सी भी देर हो जायेगी, मैं अयोध्या नहीं पहुँचा, तो मैं

उस वीर को जीता हुआ नहीं पाऊँगा। बड़ी याद आ रही है। गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं 'भरत सरिस को राम सनेही, जग जप राम, राम जप जेही।' भरत के समान राम का स्नेही कौन होगा! सारा संसार राम-राम जपता है और रामचन्द्र जी जो हैं वे भरत-भरत रट रहे हैं। एक क्षण के लिए उनकी विस्मृति नहीं हो रही है। खूब उनकी याद आ रही है। तो नहीं गये लंका में। और दूसरा कोई काम नहीं किया। कहते हैं, भैया विभीषण! जल्दी इन्तजाम करो, जल्दी-से-जल्दी मुझ को पहुँचाओ। देर हो गयी, तो मैं उस वीर को जीता हुआ नहीं पाऊँगा। मुझे उसकी बड़ी याद आ रही है। तो बड़ी याद आ रही है—"भरि आये दोउ राजिव नयना"। कमल नयन दोनों सजल हो गये हैं। अश्रु भर गये। भीतर से प्रेम उमड़ रहा है। तो स्वामी जी को मैंने सुना दिया। हमने कहा, देखिए इसमें दिया हुआ है। क्या दिया हुआ है? कि हरि मेरा सुमिरन करे। हरि तो सुमिरन कर ही रहे हैं। संत कबीर कहते हैं "मन ऐसा निर्मल भया, जैसे गंगा नीर। पीछे-पीछे हरि फिरे कहत कबीर-कबीर।" प्रभु के प्रेम में कबीर अपने को भूल गये। तो कबीर को अब सुधि नहीं रही। लेकिन वह जिसके प्रेमी हैं, जिसके प्रेम में उन्होंने अपने अहम् को समर्पित कर दिया है वह प्रेमी उनको कैसे भूलेगा? वह प्रेमी उनके पीछे कबीर-कबीर कहता हुआ फिर रहा है, उनको सम्हाल रहा है। उसके प्यार का मजा ले रहा है, अपने प्यार का मजा उसको दे रहा है। यह मानव-जीवन में विश्राम पाने की सब से अन्तिम और अचूक औषधि है। खरीदने के लिए कहीं जाना नहीं पड़ेगा। और नकली धातु से बना हुआ तत्त्व नहीं मिलेगा। अगर इस तत्त्व की वृद्धि करनी है अपने लोगों को, तो सब सामग्री अपने ही में विद्यमान है। आज से ही उसके लिए सचेष्ट हो जाओ। शरीर के नाश होने से पहले वह पूर्ण विश्राम, वह चिर विश्राम, वह अनन्त विश्राम न मिल जाए, तो स्वामी जी महाराज कहते हैं—मुझ को फाँसी पर चढ़ा देना। मिलेगा, अवश्य मिलेगा।

▪▪▪▪▪▪▪

सन्त हृदय की करुण पुकार

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो,
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो,
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
पीर हरो हरि पीर हरो हरि पीर हरो प्रभु पीर हरो ।
पीर हरो हरि पीर हरो हरि पीर हरो प्रभु पीर हरो ।